प्रकाशक :
प्रभात प्रकाशन
२०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली।

❀

रूपान्तर :
राजेश दीक्षित

❀

प्रथम संस्करण :
१९५९ ई०

❀

❀

मुद्रक :
हरीहर प्रेस, मथुरा

❀

मूल्य :
दो रुपया

अनुक्रमणिका

दो शब्द

'शिक्षा, संस्कृति और समाज' में स्वामीजी के ऐतद्-विषयक लेखों तथा उद्बोधक विचारों का संकलन किया गया है। इनमें हिन्दू-जाति की सामाजिक व्यवस्थाओं की विवेचना करते हुए उसकी उन्नति के क्रियात्मक उपायों पर प्रकाश डाला गया है।

स्वामी विवेकानन्द ग्रंथमाला की यह छठवीं पुस्तक भी पाठकों के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं हैं।

—राजेश दीक्षित

भारत के लिए शिक्षा प्रणाली

आपने मेरी कार्य प्रणाली के बारे में जो पूछा है, उस सम्बन्ध में मुझे पहले यह कहना है कि किसी भी काम की जाँच उसके फल के अनुसार करनी चाहिए। अतः उसे उस रूप में आरम्भ किया जाय, जो अपेक्षित परिणामों के अनुरूप हो। पहले मैं आपके विचार के लिए अनुभव किए हुए सिद्धान्तों को आपकी सेवा में उपस्थित करता हूँ।

हम लोग सदैव पराधीन रहे हैं अर्थात् इस भारतभूमि में जनसाधारण को कभी भी अपने अधिकार में ज्ञान प्राप्त करने का अवसर नहीं दिया गया। पश्चिमी देश आज कुछ शताब्दियों से स्वाधीनता की ओर बड़ी तेजी से बढ़ रहे हैं। भारत में कुलीन प्रथा से लेकर खान-पान तक सभी विषय राजा ही निबटाते चले आए हैं, परन्तु पश्चिमी देशों में प्रजा स्वयं सभी कार्यों को करती है।

अब राजा किसी सामाजिक विषय में हाथ नहीं डालते, फिर भी भारतीय जनता में अबतक आत्म निर्भरता तो दूर, थोड़ा-सा आत्म-विश्वास भी उत्पन्न

नहीं हुआ। जो आत्म-विश्वास वेदान्त की नींव है, वह अभी तक यहाँ कार्यरूप में आने के बाद भी परिणत नहीं हुआ है। इसलिए पश्चिमी प्रणाली अर्थात् पहले उद्देश्य की चर्चा, तदुपरांत जो करना है, उसे मिल-जुल कर डालना—इस देश में अभी तक सफल नहीं हुई। इसी-लिए हम विजातीय राजाओं के अधीन स्थितिशील(Conservative) दिखाई पड़ते हैं। यदि यह सत्य है तो जनता के बीच चर्चा अथवा सार्वजनिक वाद-विवाद के द्वारा किसी महान् कार्य को सिद्ध करने की चेष्टा व्यर्थ है। जब सिर ही नहीं, तो सिर में दर्द ही कैसा? जनता है कहाँ? इसके अतिरिक्त हम इतने दुर्बल हैं कि यदि हम किसी विषय की चर्चा आरम्भ करें, तो हमारा सम्पूर्ण बल उसी में लग जाता है, फिर कोई कार्य करने के लिए तनिक भी शक्ति शेष नहीं रह जाती। इसलिए हम बङ्गाल में 'ऊँची दूकान—फीका पकवान' वाली कहावत को प्रायः ही चरितार्थ होते हुए देखा करते हैं। दूसरी बात यह है, जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका हूँ—मुझे भारतवर्ष के धनिकों से कुछ भी आशा नहीं है। आशा है तो केवल युवकों से। उन्हीं के बीच धैर्य पूर्वक धीरे-धीरे एवं चुपचाप कार्य करते रहना उत्तम है। अब कार्य के सम्बन्ध में कहता हूँ—

जब से शिक्षा सभ्यता आदि, उच्च वर्ण वालों से धीरे-धीरे जनसाधारण में फैलने लगी, उसी दिन से पश्चिमी देशों की वर्त्तमान सभ्यता तथा भारत, मिश्र, रोम आदि की प्राचीन सभ्यता के बीच अन्तर बढ़ने लगा है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिस जाति की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना अधिक प्रचार है, वह जाति उतनी ही अधिक उन्नत है। भारतवर्ष के सत्यानाश का मूल कारण यही रहा है कि देश की सम्पूर्ण विद्या और बुद्धि, राज्य शासन तथा दम्भ के बल पर केवल मुट्ठी भर लोगों के अधिकार में रक्खी गई है। यदि हमें फिर से उन्नति करनी है, तो हमें उसी मार्ग पर चलना होगा अर्थात् जनता में विद्या का प्रचार करना होगा। आधी शताब्दी से समाज-सुधार की धूम मची हुई है। मैंने दस वर्ष तक भारतवर्ष के अनेकानेक स्थानों में

घूमकर यह देखा कि देश में समाज-सुधारक समितियों की एक बाढ़ सी आ गई है, परन्तु जिनका खून चूसकर हमारे भद्र लोगों ने यह फल प्राप्त किया है और कर रहे हैं, उन बेचारों के लिए एक भी सभा नजर नहीं आई। मुसलमान लोग कितने सिपाही लाए थे? यहां अंग्रेज कितने थे? चांदी के छः सिक्कों के लिए अपने पिता व भाई के कण्ठ पर चाकू चला देने वाले लाखों मनुष्य भारत के अतिरिक्त और कहां मिल सकते हैं? सात सौ वर्षों के मुसलमानी शासन-काल में छः करोड़ मुसलमान तथा सौ वर्ष के ईसाई राज्य में बीस लाख ईसाई कैसे बन गए? मौलिकता ने देश को बिलकुल क्यों त्याग दिया? हमारे सुदक्षशिल्पी यूरोप वालों के साथ बराबरी करने में असमर्थ होकर दिन प्रतिदिन दुर्दशा को क्यों प्राप्त हो रहे हैं? फिर, जर्मन कारीगरों ने किस बल से अंग्रेज कारीगरों के कई शताब्दियों के दृढ़ प्रतिष्ठित आसन को हिला दिया है?

शिक्षा! शिक्षा!! केवल शिक्षा!!! यूरोप के बहुत से नगरों में भ्रमण करते हुए वहाँ के दरिद्रों तक के लिए अमन-चैन अथवा शिक्षा की सुविधाओं को देखकर अपने यहाँ के दरिद्रों की बात स्मरण आ जाती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला—शिक्षा! शिक्षा से आत्म-विश्वास आता है और आत्म-विश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जग उठता है। परन्तु हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित व संकुचित होता चला जा रहा है। न्यूयार्क में आयरिश उप-निवेशवासियों को आते हुए देखता था—वे अंग्रेजों के पाँव से कुचले हुए, कान्तिहीन, असहाय, अत्यन्त दरिद्र तथा महामूर्ख थे—उनके हाथ में एक लाठी तथा उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक गठरी होती थी। उनकी चाल-चितवन में भय समाया रहता था। छः महीने बाद वही दृश्य एकदम बन्द गया हो—अब वह आयरलैंडवासी तनकर चल रहा है, उसकी वेशभूषा बदल गई है, उसकी चाल तथा चितवन में वह पहले का भय दिखाई नहीं देता। ऐसा कैसे हुआ? इसके उत्तर में हमारा वेदान्त कहता है कि वह आयरिश अपने देश में

चारों ओर घृणा से घिरा रहता था, सम्पूर्ण प्रकृति एक स्वर से उसे कह रही थी—'बच्चू ! तुझे और क्या आशा है, तू गुलाम ही उत्पन्न हुआ और सदैव गुलाम ही बना रहेगा।' बच्चू को जीवन भर यह सुनते-सुनते उसी का विश्वास हो गया तथा उसने स्वयं को सम्मोहित कर डाला कि वह अत्यन्त नीच है, उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया है। परन्तु जब उसने अमेरिका में पाँव रक्खे, तो चारों ओर से उसे यह ध्वनि सुनाई पड़ने लगी—'बच्चू ! तू भी वही मनुष्य है, जो हम लोग हैं। जो कुछ हुआ है, वह सब मनुष्यों ने ही किया। तेरी, हमारी भाँति के लोग सब कुछ कर सकते हैं। तू साहसी बन और उठ खड़ा हो।' बच्चू ने सिर उठाकर देखा कि यह बात ठीक ही है बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्मभाव जाग उठा, जैसे स्वयं प्रकृति ने ही कहा हो—'उत्तिष्ठित, जाग्रत्, प्राप्य, वरान्निबोधत' अर्थात्—'उठो, जागो, तथा ध्येय की प्राप्ति तक रुको मत'।

इसी तरह हमारे लड़के जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वह भी अत्यन्त अभावात्मक (**Negative**) है। स्कूल के लड़के इससे सीखते तो कुछ भी नहीं, अपितु जो कुछ अपना है, उसका विनाश हो जाता है। और इसका फल है—श्रद्धा का अभाव। जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूल मंत्र है, जिस श्रद्धा ने नचिकेता को यम के समीप ले जाकर प्रश्न करने का साहस दिया, जिस श्रद्धा के बल से संसार चल रहा है—उसी श्रद्धा का लोप हो जाता है। गीता में कहा है कि अज्ञ तथा श्रद्धा-हीन व्यक्ति का विनाश हो जाता है। इसीलिए तो हम मृत्यु के इतने समीप हैं। अतः अब उपाय क्या है ? उपाय है—शिक्षा का प्रसार। पहले आत्म-विद्या, इससे मेरा तात्पर्य जटाजूट, दंड, कमंडल एवं पहाड़ की कंदराओं से नहीं, जो उस शब्द के उच्चारण करते ही स्मरण हो आते हैं। तब मेरा तात्पर्य क्या है ? जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सांसारिक बन्धन से छुटकारा पा जाता है। क्या उससे तुच्छ वैयक्तिक उन्नति नहीं हो सकेगी ? अवश्य हो सकती है। मुक्ति, वैराग्य, त्याग ये तो सब अत्यन्त श्रेष्ठ आदर्श हैं, परन्तु गीता में लिखा है—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'

अर्थात् इस धर्म का थोड़ा-सा भाग भी (जन्म तथा मृत्यु के) महाभय से त्राण करता है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शैव सिद्धान्त, वैष्णव, शाक्त, यहाँ तक कि बौद्ध तथा जैन आदि जितने सम्प्रदाय भारतवर्ष में स्थापित हुए हैं, वे सभी इस विषय पर सहमत हैं कि इस जीवात्मा में अनन्त शक्ति अव्यक्त भाव से निहित है, चींटी से लेकर ऊँचे-ऊँचे सिद्ध पुरुष तक सभी में वह आत्मा विद्यमान है और जो कुछ भेद है, वह केवल प्रकाश के तारतम्य में है। "वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिक वत्" जिस तरह किसान खेत की मेंढ़ तोड़ देता है तथा एक खेत का पानी दूसरे में वहने लगता है, उसी प्रकार आत्मा भी आवरण टूटते ही प्रकट हो जाती है। संयोग तथा उपयुक्त देश-काल के मिलते ही यह शक्ति स्वयं को अभिव्यक्त करती है, चाहे वह व्यक्त अवस्था में हो, चाहे अव्यक्त अवस्था में—यह शक्ति प्रत्येक में, ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सभी में, मौजूद है। हमें द्वार-द्वार पर जाकर इस शक्ति को जगाना होगा।

यह तो हुई पहिली वात, दूसरी बात यह है कि इसके साथ ही साथ विद्या भी सिखानी पड़ेगी। ऐसा कहना तो अत्यन्त सरल है, परन्तु उसे कार्य में किस तरह लाया जाय? हमारे देश में सहस्रों निःस्वार्थ, दयालु तथा त्यागी पुरुष हैं, जिस तरह वे विना कोई पारिश्रमिक लिए घूम-घूम कर धर्मशिक्षा दे रहे हैं, उसी तरह उनसे कम से कम आधे लोग उस विद्या के शिक्षक वनाए जा सकते हैं, जिसकी हमें आज सवसे अधिक आवश्यकता है। इस कार्य के लिए पहले प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक-एक केन्द्र होना चाहिए, जहाँ से धीरे-धीरे भारतवर्ष के सभी स्थानों में फैलना होगा। मद्रास तथा कलकत्ते में हाल ही में दो केन्द्र बने हैं, कुछ और भी शीघ्र होने की आशा है। एक वात और भी, दरिद्रों को अधिकांश शिक्षा वातों से अथवा भौतिक रूप से ही दी जानी चाहिए, स्कूल आदि का समय अभी नहीं आया। धीरे-धीरे उन मुख्य केन्द्रों में खेती, व्यापार आदि भी

सिखाए जाएँगे तथा उद्योगशालाएँ भी खोली जाएँगी, जिससे इस देश में शिल्प आदि की उन्नति हो। इन उद्योगशालाओं का माल यूरोप तथा अमेरिका में बेचने के लिए, उन देशों में अभी जैसी समितियाँ हैं, वैसी और भी स्थापित की जाएँगी। जिस तरह पुरुषों के लिए प्रवन्ध हो रहे हैं, ठीक उसी तरह स्त्रियों के लिए प्रबन्ध हो रहे हैं। उनके लिए भी केन्द्र खोलने चाहिए। परन्तु आप जानते हैं कि इस देश में ऐसा होना कितना कठिन है। मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि जिस साँप ने काटा है, वही अपना विष उठाएगा; इन सब कार्यों के लिए जिस धन की आवश्यकता पड़ेगी, वह पश्चिमी देशों से आएगा। इसीलिए हमारे धर्म का यूरोप तथा अमेरिका में प्रचार होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान ने ईसाई धर्म की भित्ति को बिलकुल चूर-चूर कर दिया है। इसके अतिरिक्त, विलासिता ने तो धर्मवृत्ति का प्रायः नाश ही कर डाला है। यूरोप तथा अमेरिका आशा भरी दृष्टि से भारत की ओर देख रहे हैं। परोपकार का ठीक समय यही है। शत्रु के किले पर अधिकार करने का यही उत्तम समय है।

पश्चिमी देशों में स्त्रियों का ही राज्य, स्त्रियों का ही बल तथा स्त्रियों की ही प्रभुता है। यदि आप जैसी वेदान्त जानने वाली तेजस्विनी तथा विदुषी महिलाएँ प्रचार-कार्य के लिए इङ्गलैण्ड में जाँय तो मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि प्रत्येक वर्ष सैकड़ों स्त्री-पुरुष भारतीय धर्म को ग्रहण करके कृतार्थ हो जाएँगे। हमारे यहाँ से अकेली रमाबाई ही गई थीं। अंग्रेजी भाषा, पश्चिमी विज्ञान तथा शिल्प आदि सम्बन्धी उनका ज्ञान बहुत ही कम था। फिर भी उन्होंने सबको चकित कर दिया। यदि आप जैसी कोई महिला वहाँ पधारे तो इंगलैण्ड भी हिल जाएगा, अमेरिका की तो बात ही क्या है। मैं दिव्य दृष्टि से यह देख रहा हूँ कि यदि भारतीय नारियाँ देशी पोशाक पहने हुए भारतवर्ष के ऋषियों के मुँह से निकले हुए धर्म का प्रचार करें, तो एक ऐसी बड़ी तरंग उठेगी, जो समस्त पश्चिमी भूमि को डुबा देगी। क्या मैत्रेयी, पन्ना, लीलावती, सावित्री, उभयभारती की इस

जन्म-भूमि में किसी अन्य नारी को यह साहस नहीं होगा। प्रभु ही जानें! हम लोग इङ्गलैण्ड पर धर्म के बल से अधिकार करेंगे, उसे जीत लेंगे "नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय"—इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। क्या कभी सभा-समितियों द्वारा इस प्रतापी असुर के हाथ से उद्धार हो सकता है? अपनी आध्यात्मिकता के बल पर हमें अपने विजेताओं को देवता बनाना होगा। मैं तो एक दीन-भिक्षुक परिव्राजक हूँ। मैं क्या कर सकता हूँ? मैं तो अकेला तथा असहाय हूँ। आप लोगों के पास धन है, बुद्धि है, तथा विद्या भी है—क्या आप लोग इस अवसर को हाथ से जाने देंगे? इङ्गलैण्ड, यूरोप तथा अमेरिका पर विजय पाना—यही हमारा महामंत्र होना चाहिए, इसी से देश का कल्याण होगा। विस्तार ही जीवन का चिन्ह है तथा हमें सम्पूर्ण संसार में अपने आध्यात्मिक आदर्शों को फैलाना होगा। हाय, मेरा शरीर कितना दुर्बल है, उस पर भी बंगाली का शरीर। इस थोड़े से परिश्रम से ही इसे प्राणघातक व्याधि ने घेर लिया है। फिर भी आशा है—

"उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

'इस कार्य को सिद्ध करने के लिए मुझ जैसा गुणवान कोई पदा हो गया है अथवा होगा, क्योंकि काल का अन्त नहीं है और पृथ्वी भी विशाल है।'

सर्वशक्तिमती विश्वेश्वरी आपके हृदय में आविर्भूत हों।

विकासवाद

आकाश तथा प्राणतत्त्वों के अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप में प्रक्षेपण तथा फिर व्यक्त से सूक्ष्म रूप में विलय के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान में बहुत कुछ समानता है। आधुनिक लोग क्रमविकास को मानते हैं तथा योगियों का भी वही मत है। परन्तु मेरी सम्मति में, योगियों द्वारा विकासवाद की जो व्याख्या की गई है, वह अधिक अच्छी है। "जात्यन्तर परिणाम प्रकृत्यात पूरात्"—अर्थात् एक योनि से दूसरी योनि में परिवर्त्तन प्रकृति की पूरक क्रिया द्वारा होता है। मूल बात यह है कि हमारा एक योनि से दूसरी में परिवर्त्तन होता रहता है तथा मनुष्य योनि सर्वश्रेष्ठ है। पतंजलि ने 'प्रकृत्या पूरात्' अर्थात् प्रकृति की पूरक क्रिया को किसानों के खेत सींचने की उपमा देकर समझाया है। हमारी शिक्षा तथा उन्नति का उद्देश्य केवल मार्ग की बाधाओं को हटाना है। इनके हट जाने पर मूल ब्रह्म भाव स्वयं ही प्रकाशित हो जाएगा। यह मान लेने पर फिर जीवन-संग्राम का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। जीवन के दुःखमय अनुभव मार्ग के केवल उड़ते

हुए दृश्य हैं, और उन्हें सम्पूर्ण रूप से हटाया जा सकता है। उन्नति अथवा विकास के लिए उनकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वे न भी होते, तो भी हमारी उन्नति होती, स्वयं को अभिव्यक्त करना वस्तुओं का स्वभाव ही है। विकासशक्ति वाहर से नहीं, अपितु भीतर से आती है। प्रत्येक आत्मा में सार्वजनीन अनुभवों तथा संस्कारों की समष्टि वीज रूप में पहले से ही विद्यमान रहती है, और इनमें से केवल वे ही संस्कार विकसित होंगे, जिन्हें उपयुक्त परिस्थितियाँ प्राप्त होंगी।

वाह्य वस्तुएँ केवल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं। इस प्रतियोगिता में, संघर्ष तथा वुराइयाँ जो हम देखते हैं, किसी क्रम संकोच के फल नहीं, किसी कारण के परिणाम नहीं, अपितु वे मार्ग की घटनाएँ मात्र हैं। यदि वे न भी रहें, तो भी मनुष्य विकसित होते-होते एकदिन व्रह्म रूप हो जायगा, क्योंकि सर्वान्तः स्थित व्रह्म का स्वभाव ही वाहर आकर स्वयं को अभिव्यक्त करना है। मेरी सम्मति में प्रतियोगिता के भयानक विचार की अपेक्षा यह विचार कहीं अधिक आशाप्रद है। मैं इतिहास का जितना ही अध्ययन करता हूँ,प्रतियोगिता वाला विचार मुझे उतना ही भ्रान्त जान पड़ता है। कुछ लोगों का यह मत है कि यदि मनुष्य-मनुष्य के साथ युद्ध न करे, तो उसकी प्रगति ही नहीं होगी। मैं भी पहले ऐसा ही सोचा करता था, परन्तु अव मुझे दिखाई दे रहा है कि प्रत्येक युद्ध ने मनुष्य की उन्नति को आगे वढ़ाने के वदले पचास वर्ष पीछे हटा दिया है। वह दिन अवश्य आएगा, जव हम इतिहास का अध्ययन एक भिन्न दृष्टिकोण से करेंगे और यह समझ सकेंगे कि प्रतियोगिता न तो कारण है और न कार्य, वह तो मार्ग की एक घटना मात्र है तथा विकास के लिए उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

मैं समझता हूँ कि केवल पतंजलि का सिद्धान्त ही ऐसा है, जिसे युक्तिवादी मनुष्य मान सकता है। वर्त्तमान व्यवस्था से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। उसके द्वारा प्रत्येक दुष्ट मनुष्य को दुष्टता करने

की आज्ञा-सी प्राप्त है । मैंने अमेरिका में ऐसे भौतिकशास्त्रियों को देखा है, जो यह कहते हैं कि अपराधियों को जड़ से मिटा देना चाहिए और केवल यही एक ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा समाज में अपराध को मिटाया जा सकता है।ये परिस्थितियाँ विकास में बाधा डाल सकती हैं, परन्तु उसके लिए आवश्यकता है प्रतियोगिता की ही।सबसे भयानक बात तो यह है कि कोई एक व्यक्ति परिस्थितियों पर विजय भले ही प्राप्त करले, परन्तु जहाँ एक की जीत होती है, वहाँ सहस्रों का नाश भी हो जाता है। अतः यह बुरा ही है। जिससे केवल एक को सहायता हो तथा अधिकों को बाधा पहुंचे, वह कभी भला नहीं हो सकता। पतंजलि कहते हैं कि ये संघर्ष केवल हमारे अज्ञान के कारण से ही हैं, अन्यथा न तो इनकी आवश्यकता है और न ये मानव-विकास के कोई अंश ही हैं। हम अपनी अधीरता के कारण ही इन्हें उत्पन्न कर लेते हैं। हममें इतना धैर्य नहीं है कि हम अपने मार्ग को वीरता से तैयार करें। उदाहरण के लिए, जब नाटकघर में आग लग जाती है, तब थोड़े-से लोग ही बाहर निकल पाते हैं, शेष सब लोग जल्दी निकलने की धक्का-धुक्की में एक दूसरे को कुचल डालते हैं। नाटकघर से जो दो-तीन व्यक्ति बचकर बाहर निकल पाते हैं, उनकी रक्षा के लिए यह कुचलना आवश्यक नहीं था। यदि सब लोग धीरे-धीरे निकले होते, तो एक को भी चोट नहीं लगती। यही हाल जीवन में भी है। हमारे लिए द्वार खुले पड़े हैं और हम सब बिना किसी संघर्ष के अथवा बिना किसी प्रतियोगिता के बाहर निकल सकते हैं, परन्तु फिर भी हम संघर्ष करते हैं। हम अपने अज्ञान से, अपनी अधीरता से संघर्ष की सृष्टि कर लेते हैं, हम बड़े जल्दबाज हैं—हममें धीरज बिलकुल नहीं है। शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है—स्वयं को शान्त रखना तथा स्वयं अपने पाँव पर खड़ा होना।

अधिकारीवाद के दोष

◈

प्राचीनकाल के ऋषियों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा होते हुए भी मैं उनकी लोक शिक्षापद्धति की आलोचना किए विना नहीं रह सकता। उन्होंने सदैव ही लोगों को कुछ नियमों का पालन करने के लिए आदेश दिया तथा जान-बूझकर भी उन्होंने उसका कारण नहीं वताया। यह पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण थी तथा इससे उद्देश्य की सिद्धि तो हुई नहीं, लोगों के मस्तक पर वातों का वोझ-सा लद गया। लोगों से उद्देश्य को छिपाए रखने का उनका कारण यह था कि यदि उन्हें अर्थात् लोगों को उसका अर्थ भी समझा दिया जाता, तो भी वे समझ नहीं सकते थे, क्योंकि वे उसके अधिकारी नहीं थे। यदि तुम किसी मनुष्य को इन शिक्षाओं को ग्रहण करने में असमर्थ समझते हो, तव तो तुम्हें उसे और भी परिश्रम से समझाने का प्रयत्न करना चाहिए, उसे शिक्षा की और भी अधिक सुविधा देनी चाहिए, ताकि वह अपनी बुद्धि का विकास कर सके और इस प्रकार सूक्ष्मतम विषयों एवं समस्याओं को समझने में समर्थ हो सके। अधिकारीवाद के इन समर्थकों

ने इस महान् सत्य की उपेक्षा करदी कि मानवात्मा की क्षमता असीम है। प्रत्येक मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम है, यदि उसे उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार शिक्षा दी जाय। यदि कोई शिक्षक किसी को कुछ समझा नहीं सकता, तो उसे अपनी अयोग्यता पर रोना चाहिए कि वह लोगों को उनकी ग्रहणशक्ति के अनुसार शिक्षा नहीं दे पाता, वजाय इसके कि वह उन लोगों को कोसे और यह कहे कि तुम लोग अज्ञान तथा कुसंस्कार के वीच पड़े हुए सड़ते रहो, क्योंकि उच्चतर ज्ञान तुम लोगों के लिए नहीं है। नियर्भता पूर्वक सत्य की घोषणा करो और यह भय मत करो कि इससे दुर्वल वुद्धि वाले भ्रम में पड़ जाएँगे। मनुष्य स्वार्थी होते हैं, वे यह नहीं चाहते कि कोई दूसरा उनके ज्ञान के स्तर पर पहुंच जाय, क्योंकि उन्हें यह भय होता है कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा अथवा अधिकार न चले जाँय। उनका कहना है कि उच्च आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान साधारण लोगों की वुद्धि में भ्रम उत्पन्न कर देगा। जैसा कि गीता में कहा गया है—

'न वुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥—३।२६

अर्थात् "विषयासक्त अज्ञानी मनुष्यों को ज्ञान की शिक्षा देकर, उनकी वुद्धि में भ्रम उत्पन्न नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य को स्वयं कर्म में लगे रहकर, अज्ञानी मनुष्यों को सभी कार्यों में लगाए रखना चाहिए।"

मैं इस अपवाद में विश्वास नहीं कर सकता कि प्रकाश से और भी अधिक घना अन्धकार होता है। यह तो सच्चिदानन्द सागर में—अमरत्व के सिन्धु में मर जाने के समान हुआ। यह कैसी असम्भव वात है। ज्ञान का अर्थ है, अज्ञानवश होने वाले भ्रम से मुक्ति। और यह कैसी विचित्र वात होगी, यदि हम यह कहें कि ज्ञान भ्रम के लिए मार्ग वना देता है. प्रवोधन भ्रान्ति की कालिमा को फैला देता है। ऐसा कभी हो सकता है? मनुष्य इतने निर्भीक नहीं हैं कि उदार सत्यों की घोषणा करें, क्योंकि वे डरते हैं कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा न

चली जाय, अतः वे यथार्थ शाश्वत सत्यों तथा जनता के अर्थहीन कुसंस्कारों में समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार लोकाचारों एवं देशाचारों की सृष्टि करके इस सिद्धान्त को गढ़ देते हैं कि सब लोगों को इन विविध आचरणों का पालन करना ही होगा। परन्तु देखो, इस तरह के समझौते को तिलांजलि देदो, आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न मत करो, मुर्दों को फूलों में मत छिपाओ! "तथापि लोकाचारों"—फिर भी लोकाचार का पालन तो करना ही होगा—इस तरह के वाक्यों को नष्ट करके फेंकदो। इनमें कोई अर्थ नहीं है। इस तरह के समझौते का परिणाम यही होता है कि महान सत्य कूड़े-कचरे के ढेर में दब जाते हैं, और उन पर के ये कूड़े-कर्कट ही आग्रह-पूर्वक यथार्थ सत्य मान लिए जाते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा स्पष्ट रूप से घोषित किए हुए गीता के महान् सत्यों पर भी वाद के टीकाकारों ने इसी तरह के समझौतों का रंग चढ़ा दिया और उसका फल यह हुआ कि संसार के सबसे श्रेष्ठ इस धर्म-ग्रन्थ में भी आजकल बहुत-सी ऐसी बातें पाई जाती हैं जिनसे लोग सत्य के मार्ग से भटक जाते हैं।

समझौते के लिए इस तरह का प्रयत्न अत्यन्त कायरता से प्रसूत होता है। अतः वीर बनो! मेरे बालकों को सबसे पहले वीर बनना चाहिए। किसी भी कारण से तनिक भी समझौता मत करो। सर्वोच्च सत्य की मुक्त रूप से घोषणा करदो। प्रतिष्ठा के नष्ट हो जाने अथवा अप्रिय संघर्ष होने के भय से पीछे मत हटो। यह निश्चित जानो कि यदि तुम प्रलोभनों को ठुकराकर सत्य के सेवक बनोगे, तो तुममें ऐसी दैवीशक्ति आजाएगी जिसके समक्ष लोग तुमसे उन बातों को कहते हुए भयभीत होंगे जिन्हें कि तुम सत्य नहीं समझते। यदि तुम बिना किसी विक्षेप के निरन्तर चौदह वर्षों तक सत्य की अनन्य सेवा कर सको तो तुम जो कुछ कहोगे, लोग उस पर विश्वास कर लेंगे। उस समय तुम जनता का सबसे बड़ा उपकार करोगे तथा उनके बन्धनों को तोड़कर सम्पूर्ण राष्ट्र को उन्नत बना दोगे।

शिक्षा का तत्त्व

मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्ति करना ही शिक्षा है। ज्ञान मनुष्य में स्वभाव सिद्ध है। बाहर से कोई ज्ञान नहीं आता, सब कुछ भीतर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, वास्तव में, मानसशास्त्र-संगत भाषा में, हमें यह कहना चाहिए कि वह 'अविष्कार' करता है, 'अनावृत' अथवा 'प्रकट' करता है। मनुष्य जो कुछ सीखता है, वह वास्तव में आविष्कार करना ही है। आविष्कार का अर्थ है —मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञान स्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया तो क्या वह आविष्कार किसी एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की राह देख रहा था? नहीं, वह उसके मन में ही था। जब समय आया, तो उसने उसे जान लिया अथवा ढूँढ़ निकाला। संसार को जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह सब मन से ही निकला है। संसार का असीम ज्ञान भंडार हमारे अपने मन में ही है; बाहरी संसार तो एक सुझाव, एक प्रेरक मात्र है, जो तुम्हें अपने ही मन का

अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है। सेव के गिरने से न्यटन को कुछ सूझा और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मनमें विचार की पुरानी कड़ियों को फिर से व्यवस्थित किया तथा उनमें एक नई कड़ी को देखा, जिसे हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। वह न तो सेव में था और न पृथ्वी के केन्द्रस्थ किसी अन्य वस्तु में ही।

अस्तु, सभी ज्ञान, चाहे वह लौकिक हो अथवा आध्यात्मिक, मनुष्य के मन में है। वह बहुधा प्रकाशित न होकर ढँका हुआ रहता है और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम यह कहते हैं कि हम सीख रहे हैं। इस आविष्करण की क्रिया जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हमारे ज्ञान की वृद्धि होती चली जाती है। यह आवरण जिस मनुष्य पर से उठता चला जारहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है। तथा जिस पर यह आवरण तह के ऊपर तह पड़ा हुआ है, वही अज्ञानी है। यह आवरण जिस पर से पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है। चकमक पत्थर के टुकड़े में जिस प्रकार अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार ज्ञान भी मन में निहित है तथा सुझाव अथवा उद्दीपक कारण ही वह घर्षण है, जो उस ज्ञानानल को प्रकाशित कर देता है। समस्त ज्ञान और सम्पूर्ण शक्तियाँ भीतर हैं। हम जिन्हें शक्तियाँ, प्रकृति के रहस्य अथवा वल कहते हैं, वे भीतर ही हैं।समस्त ज्ञान मनुष्य की आत्मा से ही आता है। जो ज्ञान सनातन-काल से मनुष्य के भीतर निहित है,वह उसी को बाहर प्रकट करता है, अपने भीतर देख पाता है।

वास्तव में कभी किसी व्यक्ति ने किसी दूसरे को नहीं सिखाया है। हम में से प्रत्येक को अपने आप को सिखाना होगा। बाहर के गुरु तो केवल सुझाव अथवा प्रेरणा देने वाले कारण मात्र हैं, जो हमारे अन्तस्थ गुरु को सभी विषयों का मर्म समझने के लिए उद्‌बोधित कर देते हैं। तब फिर बातें हमारे ही अनुभव एवं विचार शक्ति के द्वारा

स्पष्ट हो जाएँगी तथा हम अपनी आत्मा में उनकी अनुभूति करने लगेंगे। वह समूचा विशाल वटवृक्ष, जो आज कई एकड़ धरती को घेरे हुए है, उस छोटे से बीज में था, जो सम्भवतः सरसों के दाने के आठवें भाग से बड़ा नहीं था। वह सम्पूर्ण शक्ति राशि उस बीज में निबद्ध थी। हम जानते हैं कि विशाल बुद्धि एक छोटे-से जीवाणकोष (Protoplasmic cell) में सिमटी हुई रहती है। भले ही यह एक पहेली जैसा प्रतीत हो, परन्तु है सत्य। हम में से प्रत्येक किसी जीवाणु कोष से उत्पन्न हुआ है तथा हमारी सम्पूर्ण शक्तियाँ इसी में सिमटी हुई थीं। तुम यह नहीं कह सकते कि वे खाद्यान्न से उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि यदि तुम अन्न का एक पहाड़ भी खड़ा करदो, तो क्या कोई उसमें शक्ति प्रकट हो सकेगी ? शक्ति वहीं थी, भले वह अव्यक्त अथवा प्रसुप्त रही हो, परन्तु थी वहीं पर। उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा में भी अनन्त शक्ति निहित है, चाहे वह यह जानता हो अथवा न जानता हो। इसको जानना, इसका बोध होना ही, इसका प्रकट होना है।

अन्तःस्थिति दिव्य ज्योति अधिकांश मनुष्यों में अवरुद्ध रहती है, वह लोहे के सन्दूक में बन्द दीपक की भाँति है—तनिक-सा भी प्रकाश बाहर नहीं आसकता। पवित्रता एवं निःस्वार्थता के द्वारा हम उस अवरोधक माध्यम की सघनता को धीरे-धीरे झीना करते चले जाते हैं तथा अन्त में वह काँच की भाँति पारदर्शक बन जाता है। श्री रामकृष्ण लोहे से काँच में परिवर्तित पेटी की भाँति थे, जिसमें से भीतर का प्रकाश ज्यों-का-त्यों दिखाई दे सकता है।

तुम किसी बालक को शिक्षा देने में उसी तरह असमर्थ हो, जिस तरह किसी पौधेको बढ़ानेमें, पौधा अपनी प्रकृतिका विकास स्वंयही कर लेताहै। बालक भी स्वंयको शिक्षित करता है। परन्तु तुम उसे अपने ही ढंग से आगे बढ़ने में सहायता अवश्य दे सकते हो। तुम जो कुछ कर सकते हो, वह निषेधात्मक ही होगा, विधिआत्मक नहीं। तुम केवल

वाधाओं को हटा दे सकते हो, और वस, ज्ञान अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाएगा। धरती को कुछ पोली वना दो, जिससे उसमें से उगना सरल हो जाय। उसके चारों ओर घेरा वना दो और यह देखते रहो कि कोई उसे नष्ट न कर दे। उस वीज से उगते हुए पौधे की शारीरिक वनावट के लिए तुम मिट्टी, पानी तथा समुचित वायु का प्रवन्ध कर सकते हो, और वहीं पर तुम्हारा कार्य समाप्त हो जाता है। फिर वह अपनी प्रकृति के अनुसार जो भी आवश्यक होगा, उसे ले लेगा। वह अपनी प्रकृति से ही सव को पचाकर वृद्धि को प्राप्त होगा। वस, वालक की शिक्षा के सम्वन्ध में भी ऐसा ही है, वालक स्वयं अपने आपको शिक्षित कर रहा है। शिक्षक ऐसा समझकर कि वह शिक्षा दे रहा है, सव कार्य विगाड़ डालता है। संपूर्ण ज्ञान मनुष्य के हृदय में अवस्थिति है, केवल उसे जाग्रत करने—केवल प्रवोधन की आवश्यकता है, और शिक्षक का केवल इतना ही कार्य है। हमें वालकों के लिए केवल इतना ही करना है कि वे अपने हाथ, पाँव, कान तथा आँखों के उचित उपयोग के निमित्त अपनी वुद्धि का प्रयोग करना सीखें।

किसी ने एक को सम्मति दी कि गधे को पीटने से वह घोड़ा वन सकता है। गधे के मालिक ने उसे घोड़ा वनाने की इच्छा से इतना पीटा कि वह वेचारा मर ही गया। इस तरह लड़के को ठोक-पीट कर शिक्षित बनाने की जो प्रणाली है, उसका अन्त कर देना चाहिए। माता-पिता के अनुचित दवाव के कारण हमारे वालकों को विकास का स्वतन्त्र अवसर प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक में ऐसी असंख्य प्रवृत्तियाँ रहा करती हैं, जिनके विकास के लिए समुचित क्षेत्र की आवश्यकता होती है। सुधार के लिए जवर्दस्ती उद्योग करने का परिणाम सदैव उलटा ही होता है। यदि तुम किसी को सिंह न वनने दोगे, तो वह स्यार ही वनेगा।

हमें अपने सामने विधायक विचार रखने चाहिए। निषेधात्मक

विचार लोगों को दुर्बल बना देते हैं। क्या तुमने यह नहीं देखा कि जहां माता-पिता अपने बालकों के पढ़ने-लिखने के लिए सदैव उनके पीछे लगे रहते हैं और यह कहा करते हैं कि तुम कभी कुछ भी नहीं सीख सकते, गधे ही बने रहोगे—वहाँ बालक वास्तव में वैसे ही बन जाते हैं? यदि तुम उनसे सहानुभूतिपूर्ण बातें करो तथा उन्हें उत्साह प्रदान करो, तो समय पाकर उनकी उन्नति होना निश्चित है। यदि तुम उनके सामने विधायक विचार रक्खो तो उनमें मनुष्यत्व आएगा तथा वे अपने पाँव पर खड़े होना सीखेंगे। भाषा तथा साहित्य, काव्य एवं कला, प्रत्येक विषय में हमें मनुष्यों को उनके विचार तथा कार्य की भूलें नहीं बतानी चाहिए, अपितु उन्हें वह मार्ग दिखा देना चाहिए, जिससे वे इन सब बातों को और भी सुचारु रूप से कर सकें। विद्यार्थी की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा में परिवर्त्तन होना चाहिए। अतीत के जीवनों ने हमारी प्रवृत्तियों को गढ़ा है, अतः विद्यार्थी को उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार मार्ग दिखाना चाहिए। जो जहाँ पर है, उसे वहीं से आगे बढ़ाओ। हमने देखा है कि हम जिन्हें निकम्मा समझते थे, श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें भी किस तरह उत्साहित किया तथा उनके जीवन का प्रवाह एकदम बदल दिया। उन्होंने कभी भी किसी मनुष्य की विशेष प्रवृत्तियों को नष्ट नहीं किया। उन्होंने अत्यन्त पतित मनुष्यों के लिए आशा तथा उत्साह पूर्ण वचन कहे एवं उन्हें ऊपर उठा दिया।

विकास की पहली शर्त स्वाधीनता ही है। यदि कोई यह कहने का दुःसाहस करे कि मैं इस स्त्री अथवा इस बालक के उद्धार का उपाय करूँगा, तो वह गलत है, सहस्र बार गलत है। दूर हट जाओ! वे अपनी समस्याओं को स्वयं ही हल कर लेंगे। तुम सर्वज्ञता का दम्भ भरने वाले कौन होते हो? तुम में ऐसे दुःसाहस का विचार किस तरह आया कि तुम्हारा अधिकार ईश्वर पर भी है? प्रत्येक को ईश्वर का स्वरूप समझो! तुम सेवा मात्र कर सकते हो, प्रभु की

सन्तानों की सेवा करो—जब कभी भी तुम्हें अवसर प्राप्त हो। यदि तुम ईश्वर की इच्छा से उनकी किसी संतान की सेवा कर सको तो तुम वास्तव में धन्य हो। तुम धन्य हो कि वह सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ तथा अन्य लोग उससे वंचित रहे। तुम उस कार्य को पूजा की भावना से करो।

शिक्षा ही एकमात्र मार्ग है

ज्ञान को प्राप्त करने के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है–'एकाग्रता' । मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सम्पूर्ण सार है। ज्ञान प्राप्ति के हेतु निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम योगी तक को इसी एक मार्ग का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। रासायनिक व्यक्ति अपनी प्रयोगशाला में अपने मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके, एक ही केन्द्र में स्थित करता है और तत्त्वों पर उन्हें प्रक्षेप करता है–उससे तत्त्व विश्लेषित हो जाते हैं और उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। ज्योतिषी अपने मन की शक्तियों को एकाग्र करके एक ही केन्द्र में स्थित करता है तथा दूरदर्शी यंत्र के द्वारा उन्हें अपने विषयों पर लगाता है। बस त्यों ही तारागण तथा ग्रह समुदाय सामने चले आते हैं और उसके पास अपना रहस्य खोलकर रख देते हैं। चाहे विद्वान अध्यापक हो, चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई व्यक्ति हो, यदि वह किसी विषय के जानने का प्रयत्न कर रहा है, तो उसे उपर्युक्त रीति से ही काम लेना होगा।

२५

एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी, ज्ञान की प्राप्ति उतनी ही अधिक होगी। नीच चर्मकार भी यदि अधिक एकाग्रचित्त होगा, तो जूते को अधिक अच्छा साफ करेगा। रसोइया एकाग्रचित्त होने से अधिक अच्छा भोजन पकाएगा। धन कमाने में, ईश्वर की आराधना करने में अथवा अन्य कोई भी कार्य करने में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह काम उतना ही अधिक अच्छा सम्पन्न होगा। यही एक खटखटाना है, यही एक आघात है, जो प्रकृति के द्वारों को खोल देता है तथा ज्ञान रूपी प्रकाश को वाहर फैलाता है।

नव्वे प्रतिशत विचार-शक्ति को साधारण मनुष्य व्यर्थ ही खो देता है तथा इसी कारण वह सदैव वड़ी-वड़ी भूलें किया करता है। अभ्यस्त मन कभी भूल नहीं करता। मनुष्यों तथा पशुओं में मुख्य भेद केवल चित्त की एकाग्रता-शक्ति का तारतम्य ही है। पशु में एकाग्रता की शक्ति वहुत कम होती है। जिन्होंने पशुओं को शिक्षित करने का कार्य किया है, वे इस कठिनाई का अनुभव करते हैं कि पशु को जो कुछ सिखाया जाता है, वह उसे सदैव ही भूल जाया करता है। पशु अपना मन अधिक समय तक किसी वात पर स्थिर नहीं रख सकता। वस, यही मनुष्यों तथा पशु में अन्तर है। मनुष्य-मनुष्य का भेद भी उनकी एकाग्रताशक्ति के इस तारतम्य से होता है। सवसे नीच मनुष्य की उच्चतम मनुष्य के साथ तुलना करो तो उन दोनों में भेद केवल एकाग्रता की मात्रा में ही होगा।

किसी कार्य की सफलता इसी पर निर्भर करती है। कला, संगीत आदि में वहुत अधिक प्रवीणता प्राप्त कर लेना इसी एकाग्रता का फल है। जव मन को एकाग्र करके उसे अपने ही ऊपर लगाया जाता है, तव हमारे भीतर के सभी हमारे नौकर वन जाते हैं, मालिक नहीं रह जाते। यूनानियों ने अपनी एकाग्रता का प्रयोग वाहरी-संसार पर किया था और इसके परिणाम स्वरूप उन्हें कला, साहित्य आदि में पूर्णता प्राप्त हुई। हिन्दुओं ने अन्तर्जगत पर, आत्मा के अदृष्ट-प्रदेश पर अपने चित्त को एकाग्र किया और इस प्रकार योगशास्त्र

की उन्नति की। विश्व अपना रहस्य खोल देने के लिए प्रस्तुत है। हमें केवल यही जानना है कि इसके लिए दरवाजा किस तरह खटखटाया जाय—आवश्यक आघात किस तरह किया जाय। यह खटखटाने अथवा आघात करने की शक्ति एवं दृढ़ता एकाग्रता से ही प्राप्त होती है।

एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के खजाने की एकमात्र कुञ्जी है। अपनी वर्त्तमान शारीरिक अवस्था में हम अत्यन्त ही विक्षिप्त चित्त हो रहे हैं। इस समय हमारा मन सैकड़ों ओर दौड़-दौड़ कर अपनी शक्ति को नष्ट कर रहा है। मैं जब कभी व्यर्थ की समस्त चिन्ताओं को छोड़-कर, ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से, मन को किसी विषय पर स्थिर करने का प्रयत्न करता हूँ, त्योंही मस्तिष्क में सहस्रों अवांछित भावनाएँ दौड़ आती हैं, सहस्रों चिन्ताएँ मन में एक साथ आकर उसे चंचल वना देती हैं। किस तरह इन्हें रोकर मन को वश में लाया जाय, यही राज-योग का एकमात्र आलोच्य विषय है। ध्यान का अभ्यास करनेसे मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति होती है।

मैं तो मन की एकाग्रता को ही शिक्षा का यथार्थ सार समझता हूँ। ज्ञातव्य विषयों के संग्रह को नहीं। यदि एक वार मुझे फिर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, तो मैं विषयों का अध्ययन नहीं करूंगा। मैं तो एकाग्रता की तथा मन को विषय से अलग कर लेने की शक्ति को वढ़ाऊँगा और तव साधन अथवा यंत्र की पूर्णता प्राप्त हो जाने पर इच्छानुसार विषयों का संग्रह करूँगा।

वारह वर्ष तक अखंड ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को शक्ति प्राप्त होती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रवल वौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती हैं। वासनाओं को वश में कर लेने पर शुभ फल प्राप्त होते हैं। कामशक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिवर्तित करलो यह शक्ति जितनी ही प्रवल होगी, उससे उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा, जल का शक्तिशाली प्रवाह खान खोदने के जल यंत्र को चला सकता है। इस ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण हमारे देश में प्रत्येक वस्तु नष्ट

प्रायः हो रही है। कठिन ब्रह्मचर्य के पालन से कोई भी विद्या थोड़े ही समय में प्राप्त की जा सकती है, एक वार सुनी अथवा जानी हुई वात को याद रखने की अचूक स्मरण शक्ति प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मचारी के मस्तिष्क में प्रवल कार्यशक्ति तथा अमोघ इच्छाशक्ति रहती है। पवित्रता के विना आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती। ब्रह्मचर्य द्वारा मनुष्य जाति पर अद्भुत प्रभुता प्राप्त होती है। आध्यात्मिक नेतागण अखंड ब्रह्मचारी रहे हैं। इसीलिए उन्हें शक्ति प्राप्त हुई थी।

प्रत्येक वालक को पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने की शिक्षा देनी चाहिए तभी उसमें श्रद्धा एवं विश्वास की उत्पत्ति होगी। सदैव तथा सभी अवस्थाओं में मन, वचन तथा कर्म से पवित्र रहना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अपवित्र कल्पना उतनी ही वुरी होती है, जितना कि अपवित्र कार्य। ब्रह्मचारी को मन, वाणी तथा कर्म से शुद्ध रहना चाहिए।

एक वार फिर से अपने में सच्ची श्रद्धा की भावना लानी होगी, आत्म-विश्वास को फिर जागृत करना होगा, तभी हम उन समस्त समस्याओं को धीरे-धीरे सुलझा सकेंगे, जो आज हमारे सम्मुख हैं। आज हमें इसी श्रद्धा की आवश्यकता है। मनुष्य-मनुष्य में इसी श्रद्धा का अन्तर है, अन्य किसी वस्तु का नहीं। वह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को वड़ा तथा दूसरे को छोटा वनाती है। मेरे गुरुदेव कहा करते थे 'जो स्वयं को दुर्वल समझता है, वह वास्तव में दुर्वल ही हो जाता है।' और यह विलकुल सत्य है। तुममें यह श्रद्धा आनी ही चाहिए। पाश्चात्य जातियों में तुम जो कुछ भौतिकशक्ति का विकास देखते हो, वह इसी श्रद्धा का परिणाम है,क्योंकि उन्हें अपने वाहुवल पर विश्वास है और यदि तुम आत्मवल पर विश्वास रक्खो तो परिणाम और भी कितना अधिक न होगा !

इस एक वात को अच्छी तरह समझलो कि जो मनुष्य दिन-रात यह सोचता रहता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, हमें उससे कोई आशा नहीं रखनी चाहिए। यदि कोई दिन-रात यह सोचता रहे कि 'मैं दीन-

हीन हूँ, तुच्छ हूँ,' तो वह वास्तव में तुच्छ बन जाएगा। यदि तुम यह सोचो कि मैं कुछ हूँ, मुझ में शक्ति है, तो वास्तव में तुम में शक्ति आ जाएगी। यह एक महान् सत्य है, जिसे तुम्हें याद रखना चाहिए। हम उस सर्व शक्तिमान्, प्रभु की संतान हैं—उस अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ है। हम तुच्छ कैसे हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, सब कुछ करने को प्रस्तुत हैं, और सब कुछ कर सकते हैं। हमारे पूर्वजों में ऐसा ही दृढ़ आत्म-विश्वास था। इसी आत्म-विश्वास रूपी प्रेरणा शक्ति ने उन्हें सभ्यता की ऊँची-से-ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाया था और अब यदि अवनति हुई है, यदि कोई दोष आगया है, तो तुम यह देखोगे कि इस अवनति का आरम्भ उसी दिन से हो गया, जब से हम अपने इस आत्म-विश्वास को खो बैठे।

इस श्रद्धा अथवा आत्म विश्वास के सिद्धान्त का प्रचार करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। मैं इस बात को फिर कहता हूँ कि यह आत्म-विश्वास मानवता का एक सबसे अधिक शक्तिशाली अंग है। पहले स्वयं में आत्मविश्वास रक्खो। यह जान लो कि भले ही एक व्यक्ति छोटा-सा बुलबुला हो तथा दूसरा पर्वत की भाँति ऊंची तरंग हो, परन्तु उस बुलबुले और तरंग दोनों के पीछे वही अनन्त सागर मेरा तथा तुम्हारा दोनों का आधार है। जीवन, शक्ति तथा आध्यात्मिकता का वह अनन्त महासागर जैसा मेरा है, वैसा ही तुम्हारा भी है। अतः हे भाइयो, तुम अपनी सन्तानों को उनके जन्मकाल से ही इस महान्, जीवनदायक, उच्च एवं उदात्त तत्त्व की शिक्षा देना आरम्भ करदो।

शिक्षक तथा शिष्य

मेरे विचार के अनुसार शिक्षा का अर्थ है—गुरु गृह-निवास शिक्षक अर्थात् गुरू के व्यक्तिगत जीवन के विना कोई शिक्षा नहीं हो सकती। शिष्य को वाल्यावस्था से ही ऐसे गुरु के साथ रहना चाहिए, जिनका चरित्र प्रज्वलित अग्नि की भाँति हो, ताकि उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के समक्ष वना रहे। हमारे देश में सदैव से त्यागी पुरुषों द्वारा ही ज्ञान का दान होता चला आया है। ज्ञान-दान का भार फिर से त्यागियो के कन्धों पर ही पड़ना चाहिए।

भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा प्रणाली वर्तमान प्रणाली से एकदम भिन्न थी। विद्यार्थियों को शुल्क नहीं देना पडता था। ऐसी धारणा थी कि ज्ञान इतना पवित्र है कि उसे किसी मनुष्य को वेचना नहीं चाहिए। ज्ञान का दान मुक्त हस्त होकर, विना कोई मूल्य लिए, करना चाहिए। शिक्षकगण विद्यार्थियों को उनसे शुल्क लिए विना ही अपने पास रखते थे। इतना ही नहीं, वहुत से गुरु तो अपने शिष्यों को अन्न तथा वस्त्र भी देते थे। इन शिक्षकों के निर्वाह के लिए धनिक वर्ग के

लोग उन्हें दान दिया करते थे और उसी के द्वारा वे अपने शिष्यों का पालन-पोषण किया करते थे। प्राचीन समय में शिष्य गुरु के आश्रम में समित्पाणि होकर अर्थात् हाथ में समिधा लेकर जाता था और गुरु उसकी योग्यता का निश्चय करने के उपरान्त उसके कटि-प्रदेश में तीन लड़वाली मुञ्जमेखला बांध कर उसे वेदों की शिक्षा देते थे। यह मेखला, तन, मन तथा वचन को वश में रखने के लिए उसकी प्रतिज्ञा की चिह्न-स्वरूपा होती थी।

शिष्य तथा गुरु दोनों के लिए कुछ आवश्यक नियम हैं। शिष्य के लिए आवश्यकता है-शुद्धता की। ज्ञान की सच्ची पिपासा तथा लगन के साथ परिश्रम, विचार, वाणी एवं कार्य की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान प्राप्ति के सम्बन्ध में पुराना नियम यह है कि हम जो कुछ चाहते हैं, उसी को प्राप्त करते हैं, जिस वस्तु की हम अन्तःकरण से चाह नहीं करते, वह हमें प्राप्त नहीं होती। हमें तो अपनी पाशविक प्रकृति के साथ निरन्तर जूझे रहना होगा, सतत युद्ध करना होगा तथा उसे अपने वश में लाने के हेतु अविराम प्रयत्न करना होगा। कबतक? जबतक हमारे हृदय में उच्चतर आदर्श के लिए सच्ची व्याकुलता उत्पन्न न हो जाय, जबतक हमारे हाथ विजयश्री न लग जाय। जो शिष्य इस तरह अध्यवसाय पूर्वक लग जाता है, अन्त में उसकी सफलता-प्राप्ति निश्चित है।

गुरु के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें शास्त्रों के मर्म का ज्ञान हो। यों तो सम्पूर्ण संसार ही बाइबिल, वेद तथा कुरान पढ़ता है, परन्तु वे तो केवल शब्दराशि, धर्म की सूखी ठठरी मात्र हैं। जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते हैं, जिनका मन शब्दों की शक्ति में बह जाता है, वे भीतर का मर्म खो बैठते हैं। जो शास्त्रों के यथार्थ मर्मज्ञ हैं, वे ही वास्तव में सच्चे गुरु हैं।

गुरु के लिए दूसरी आवश्यक बात है—निश्पाप होना। बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि हम गुरु के चरित्र तथा व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यों दें? यह ठीक नहीं है। स्वयं के लिए आध्यात्मिक सत्य की

उपलब्धि करने तथा दूसरों में उसका संचार करने का एकमात्र उपाय है—हृदय तथा मन की पवित्रता। गुरु को पूर्ण रूप से शुद्धचित होना चाहिए, तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा। वास्तव में गुरु का काम ही यह है कि वे शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का संचार करदें, न कि शिष्य की बुद्धि वृत्ति अथवा अन्य किसी शक्ति को उत्तेजित मात्र करदें। यह स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि गुरु द्वारा शिष्य में वास्तव में एक शक्ति आरही है, अतः गुरु का शुद्ध चित्त होना आवश्यक है। तीसरी बात यह है कि उद्देश्य से सम्बन्धित गुरु को धन, नाम अथवा यश सम्बन्धी स्वार्थ-सिद्धि के लिए धर्म-शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनके कार्य तो समस्त मानवजाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से प्रेरित ही होने चाहिए। आध्यात्मिक शक्ति का संचार केवल शुद्ध प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है। किसी तरह का स्वार्थ पूर्ण भाव, जैसे कि लाभ अथवा यश की इच्छा, तत्काल ही इस प्रेम रूपी माध्यम को नष्ट कर देगा।

गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध ठीक उसी तरह है, जैसा कि पूर्वज के साथ उसके वंशज का। गुरु के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय तथा श्रद्धा के बिना हममें धर्म पनप ही नहीं सकता। जिन देशों में इस तरह के गुरु-शिष्य सम्बन्ध की उपेक्षा हुई है, वहाँ धर्मगुरु एक वक्ता मात्र रह गया है—गुरु को मतलब रहता है अपनी दक्षिणा से और शिष्य को मतलब रहता है गुरु के शब्दों से, जिन्हें वह अपने मस्तिष्क में ठूँस लेना चाहता है। यह तो वही हुआ कि दोनों ही केवल अपना-अपना रास्ता नापते हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि किसी के प्रति अंधी भक्ति से मनुष्य की प्रवृत्ति दुर्बलता एवं व्यक्तित्व की उपासना की ओर झुकने लगती है। अपने गुरु की पूजा ईश्वर-दृष्टि से करो, परन्तु उनकी आज्ञा का पालन आँखें बन्द कर मत करो। प्रेम तो उन पर पूर्ण रूप से करो, परन्तु स्वयं भी स्वतंत्र रूप से विचार करो।

गुरु को शिष्य की प्रवृत्ति में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए। हम सच्ची सहानुभूति के बिना अच्छी शिक्षा कभी नहीं दे

सकते । 'न बुद्धि भेदंजनयेत्'—किसी की श्रद्धा को डाँवाडोल करने की चेष्टा मत करो । यदि हो सके, तो उसे उच्चतर भाव प्रदान करो, परन्तु देखना, उसके भाव को कहीं नष्ट मत कर देना । सच्चा गुरु तो वह है,जो क्षण भर में ही अपने आप को मानो सहस्त्र पुरुषों के रूप में परिवर्त्तित कर सकता है । सच्चा गुरू वह है, जो स्वयं को शिष्य की सतह तक तुरन्त ही नीचे ला सकता है तथा अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सकता है और शिष्य के मन द्वारा देख तथा समझ सकता है । ऐसा ही गुरु वास्तव में शिक्षा दे सकता है, अन्य, कोई नहीं ।

जनसमूह की शिक्षा

भारतवर्ष के दरिद्रों तथा निम्नवर्ग के लोगों की दशा का स्मरण करके मेरा हृदय फटा जाता है। वे दिन-प्रति-दिन नीचे गिरते चले जा रहे हैं। निष्ठुर समाज द्वारा अपने ऊपर होने वाले आघातों का वे अनुभव तो करते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि ये आघात कहाँ से आरहे हैं। वे यह भूल गए हैं कि वे भी मनुष्य हैं। मेरा अन्तःकरण इतना भरा हुआ है कि मैं अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकता। जबतक करोड़ों मनुष्य मूर्ख तथा अज्ञान में जीवन बिता रहे हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक मनुष्य को देशद्रोही मानता हूँ, जो उनके व्यय से शिक्षित हुआ है तथा उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा है। हमारा महान् राष्ट्रीय पाप जन समुदाय की अवहेलना करना है, और यही हमारे अधः पतन का कारण है राजनीति चाहे जितनी अधिक मात्रा में रहे, तबतक उसे कोई लाभ नहीं होगा, जबतक कि भारतवर्ष की जनता एक बार फिर सुशिक्षित न हो जाय, जबतक उसे भर पेट भोजन न मिले तथा हर तरह से उसकी सुख-सुविधा की ओर ध्यान न दिया जाय।

देश उसी अनुपात में उन्नत हुआ करता है, जिस अनुपात में वहाँ के जनसमूह में शिक्षा तथा बुद्धि का प्रसार होता है। भारतवर्ष की पतनावस्था का मुख्य कारण यह रहा कि मुट्ठी भर लोगों ने देश की सम्पूर्ण शिक्षा तथा बुद्धि पर एकाधिपत्य कर लिया। यदि हम फिर उन्नति होना चाहते हैं तो हम जनसमूह में शिक्षा का प्रसार करके ही वैसे हो सकते हैं। निम्न वर्ग के लोगों को अपने खोए हुए व्यक्तित्व का विकास करने के हेतु शिक्षा देना ही उनकी एकमात्र सेवा करना है। उनके सामने विचारों को रक्खो। संसार में उनके चारों ओर क्या चल रहा है, इसकी ओर उनकी आँखें खोल दो। तब वे अपनी मुक्ति का कार्य स्वयं कर लेंगे। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को अपनी मुक्ति का कार्य स्वयं करना होगा। उनके सामने विचारों को रक्खो—बस, उन्हें इतनी सहायता चाहिए और शेष सब उसके फल स्वरूप आ ही जाएगा। हमारा कार्य है भिन्न-भिन्न रासायनिक द्रव्यों को एक साथ रख देना तथा रवे बनाने का कार्य (crystallisation) प्रकृति के नियम के द्वारा ही सम्पन्न हो जाएगा।

मेरा विचार है, हमारे शास्त्र ग्रन्थों में आध्यात्मिकता के जो रत्न विद्यमान हैं, और जो कुछ भी मनुष्यों के अधिकार में मठों तथा वनों में छिपे हुए हैं, सबसे पहले उन्हें निकालना होगा। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हुए हैं, केवल वहीं से इस ज्ञान का उद्धार करने से काम नहीं चलेगा, परन्तु उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं, उस शताब्दियों के संस्कृत शब्दों के जाल से उन्हें निकालना होगा। तात्पर्य यह है कि मैं उन्हें सबके लिए सुलभ कर देना चाहता हूँ। मैं इन तत्त्वों को निकालकर सबकी—भारत के प्रत्येक मनुष्य की सार्वजनिक सम्पत्ति बना देना चाहता हूँ, चाहे वह संस्कृत जानता हो, अथवा न जानता हो। इस मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाई हमारी यह गौरवमयी संस्कृत भाषा है, और वह तबतक दूर नहीं हो सकती, जबतक हमारे देश के सभी मनुष्य—यदि सम्भव हो तो संस्कृत के अच्छे विद्वान् नहीं हो जाते। यह कठिनाई तुम्हारी समझ में तब

आएगी, जब मैं यह कहूँगा कि जीवन भर इस संस्कृत भाषा का अध्ययन करने पर भी जब मैं इसकी कोई नई पुस्तक उठाता हूँ, तब वह मुझे बिलकुल नई-सी जान पड़ती है। अब सोचो कि जिन लोगों को कभी विशेष रूप से इस भाषा का अध्ययन करने का समय नहीं मिल पाया, उनके लिए यह कितनी अधिक क्लिष्ट होगी। अतः लोगों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी। जनसाधारण को उनकी अपनी भाषा में शिक्षा दो। उनके सामने विचारों को रखो, वे जानकारी प्राप्त कर लेंगे—परन्तु कुछ और भी आवश्यक होगा। उन्हें संस्कृति दो। जबतक तुम उन्हें संस्कृति नहीं दोगे, तबतक उनकी उन्नत दशा किसी स्थायी रूप को प्राप्त नहीं कर सकती।

इसके साथ-ही-साथ संस्कृत की शिक्षा भी चलनी चाहिए, क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनिमात्र से ही हमारी जाति को प्रतिष्ठा, बल तथा शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का विस्तार बन्द कर दिया। वे शीघ्र तथा तात्कालिक परिणाम चाहते थे, इसीलिए उन दिनों की पाली भाषा में, उन्होंने संस्कृत भाषा में निबद्ध भावों का भाषान्तर करके, उनका प्रचार किया। यह बहुत ही सुन्दर हुआ था। वे जनता की भाषा में बोले तथा जनता ने उनकी बात को समझ लिया, जिससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले तथा बहुत दूर-दूर तक पहुंचे। परन्तु इसके साथ ही संस्कृत का प्रचार भी होना चाहिए था। ज्ञान तो प्राप्त हुआ, परन्तु उसमें प्रतिष्ठा नहीं थी और जबतक तुम उसे प्रतिष्ठा नहीं देते, एक और जाति उत्पन्न हो जाएगी, जो संस्कृत भाषा को जानने के कारण औरों की अपेक्षा शीघ्र ऊँची उठ जाएगी।

याद रहे, हमारा राष्ट्र झोंपड़ियों में बसता है। वर्त्तमान समय में तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि तुम देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाओ और गाँव-गाँव में जाकर लोगों को यह समझाओ कि अब केवल आलस्य के साथ बैठे रहने से ही काम नहीं चलेगा। उन्हें उनकी यथार्थ अवस्था का परिचय कराओ तथा कहो—'भाइयो! आप सब लोग अब

उठें, जागें और कितना सोएँगे ?' जाओ, और उन्हें अपनी अवस्था सुधारने की सलाह दो तथा शास्त्रों की बातों को विस्तार पूर्वक सरलता से समझाते हुए उदात्त सत्यों का ज्ञान करादो। उनके मन में यह बात जमा दो कि धर्म के ऊपर ब्राह्मणों की भाँति उनका भी अधिकार है। सभी को यहाँ तक कि चांडाल तक को भी, इन्हीं जाज्वल्यमान मंत्रों का उपदेश दो। उन्हें सरल शब्दों में जीवन के लिए आवश्यक विषयों तथा वाणिज्य, व्यापार एवं कृषि आदि की शिक्षा भी दो।

शताब्दियों से ऊँची जाति वालों, राजाओं तथा विदेशियों के असह्य अत्याचारों ने उनकी सम्पूर्ण शक्तियों को नष्ट कर दिया है और अब शक्ति प्राप्त करने का पहिला उपाय उपनिषदों का आश्रय लेना तथा यह विश्वास करना है कि 'मैं आत्मा हूं, मुझे तलवार नहीं काट सकती, शस्त्र नहीं छेद सकता, अग्नि नहीं जला सकती, वायु नहीं सता सकती, मैं सर्व शक्तिमान हूं, मैं सर्व दर्शी हूँ।' वेदान्त के इन सब महान् तत्त्वों को अब जंगलों तथा गुफाओं से बाहर आना होगा एवं न्यायालयों, प्रार्थना मंदिरों तथा गरीबों के झोपड़ों में प्रवेश करके अपना कार्य करना होगा। अब तो मछली पकड़ने वाले मछुओं तथा विद्या-प्राप्त करते हुए विद्यार्थियों के साथ इन तत्त्वों को कार्य करना होगा। यह संदेश प्रत्येक स्त्री, पुरुष तथा बालक के लिए है। वह चाहे जो भी पेशा करे, चाहें जहाँ रहता हो। अच्छा, ये सब मछुए आदि उपनिषदों के सिद्धान्तों के अनुसार किस तरह कार्य कर सकते हैं ? मार्ग भी बता दिया है। यदि मछुआ सोचे कि मैं आत्मा हूं, तो वह एक श्रेष्ठ मछुआ होगा और यदि विद्यार्थी यह चिन्तन करने लगे कि मैं आत्मा हूँ, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा।

एक बात जो भारतवर्ष में सभी बुराइयों की जड़ है, वह है गरीबी की अवस्था। मानलो, तुमने प्रत्येक गाँव में एक निःशुल्क पाठशाला खोल दी, परन्तु तो भी उससे कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि दरिद्र बालक पाठशाला में जाने की अपेक्षा अपने पिता की सहायता करने के लिए खेतों पर जाना अथवा जीविका के लिए अन्य कोई

धन्धा करना अधिक पसंद करेंगे। अच्छा, यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास क्यों न जाए? यदि दरिद्र बालक शिक्षा लेने नहीं आ सकता, तो शिक्षा को ही उसके पास पहुंचना चाहिए। हमारे देश में सहस्रों निष्ठावान, स्वार्थत्यागी सन्यासी हैं, जो एक गाँव से दूसरे गाँव में धर्मोपदेश करते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ को भौतिक विषयों के भी शिक्षक के रूप में संगठित किया जा सके, तो वे एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक द्वार से दूसरे द्वार को, न केवल धर्मोपदेश करते हुए, अपितु शिक्षा कार्य भी करते हुए जाएंगे। मानलो, इनमें से दो मनुष्य सन्ध्या के समय किसी गाँव में अपने साथ मैजिक लैन्टर्न, दुनियां का गोला तथा कुछ नक्शे आदि लेकर गए, तो वे अनजान में भी मनुष्यों को बहुत कुछ ज्योतिष तथा भूगोल सिखा सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों की कहानियाँ बताकर वे उन दरिद्रों को कानों के द्वारा उससे कहीं सौ गुनी अधिक जानकारी करा सकते हैं जो जन्म भर में पुस्तकों के द्वारा भी कठिनाई से प्राप्त होती है। आधुनिक विज्ञान की सहायता द्वारा उनके ज्ञान को प्रज्वलित करदो। उन्हें इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा साहित्य पढ़ाओ और इन्हीं के साथ-साथ तथा इन्हीं के द्वारा धर्म के गम्भीर सत्यों की शिक्षा भी दो।

जीवन संग्राम में बुरी तरह से पीछे रहने के कारण उन्हें ज्ञान की जागृति का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। अबतक वे यंत्र की भांति कार्य करते रहे हैं, तथा चतुर, शिक्षित लोग उनके परिश्रम के फल के उत्तम अंश का स्वयं उपभोग करते रहे हैं, परन्तु अब समय बदल गया है। निम्नवर्ग वाले इस विषय में जागृत हो रहे हैं और इसका एक साथ मिलकर विरोध कर रहे हैं। अब उच्च वर्ग वाले उन्हें दबाकर नहीं रख सकते, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करें। उच्च वर्ग वालों का कल्याण अब इसी में है कि वे निम्न वर्ग वालों को उनके समुचित अधिकार की प्राप्ति में सहायता दें। इसीलिए मैं कहता हूँ कि जन-समूह में शिक्षा का प्रसार करने के कार्य में लग जाओ। उन्हें बतादो

और समझादो कि तुम हमारे भाई हो, हमारे ही शरीर के अंग हो। यदि वे तुम से इतनी सहानुभूति प्राप्त करलें, तो उनका कार्य करने का उत्साह सौ गुना बढ़ जाएगा।

बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है— पहला है हृदय अर्थात् अनुभव करने की शक्ति। बुद्धि या विचारशक्ति में क्या रक्खा है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं पर रुक जाती है। परन्तु हृदय? हृदय तो महाशक्ति का द्वार है। अन्तःस्फूर्ति वहीं से आती है। प्रेम असम्भव को भी सम्भव कर देता है। यह प्रेम ही संसार के सभी रहस्यों का द्वार है, अतः हे मेरे भावी सुधारको। मेरे भावी देशभक्तो! तुम हृदयवान बनो। क्या तुम हृदय से यह अनुभव करते हो कि देवता तथा ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशु तुल्य हो गई हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि आज लाखों मनुष्य भूखों मर रहे हैं और लाखों मनुष्य शताब्दियों से इसी प्रकार भूखों मरते आए हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सम्पूर्ण भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर भ्रमित हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुम्हारी नींद को गायब कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पंदन से मिल गई है? क्या उसने तुम्हें पागल जैसा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमेव विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर होकर तुम अपने नाम, यश, स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति, यहाँतक कि अपने शरीर की भी सुधि को भूल गए हो? क्या वास्तव में तुम ऐसे हो गए हो? बस, यही पहिला चरण है।

यह माना कि तुम अनुभव करते हो, परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्ति क्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के हेतु तुमने किसी यथार्थ कर्तव्य-पथ को निश्चित किया है? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निका-

लने के हेतु कोई मार्ग निश्चित किया है ? परन्तु इतने से ही पूरा नहीं पड़ेगा, क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लांघ कर कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो ? यदि सम्पूर्ण संसार अपने हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ा हो जाय, तो क्या उस स्थिति में भी तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस कर सकोगे ? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जांय, भाग्यलक्ष्मी तुमसे रूठ कर चली जाय, नाम-कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो क्या तुम उस समय भी सत्य में लगे रहोगे ? क्या फिर भी तुम उसके पीछे लगे रह-कर अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते रहोगे ? जैसा कि राजा भर्तृ-हरि ने कहा है—"चाहे नीति निपुण लोग निन्दा करें अथवा प्रशंसा, लक्ष्मी आए अथवा उसकी जहां इच्छा हो, वहाँ चली जाय, मृत्यु आज ही हो, अथवा सौ वर्ष पश्चात्, धीर पुरुष तो वह है, जो न्याय के मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं होता।" क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है ? यदि तुम में ये तीन बातें हैं, तो तुम में से प्रत्येक व्यक्ति अद्भुत् कार्य कर सकता है।

आओ, हम प्रार्थना करें—"तमसो मा ज्योतिर्गमय" "कृपा-मयी ज्योति, मार्ग दिखाओ।" और अन्धकार में से एक किरण दिखाई देगी, कोई पथ-प्रदर्शक हाथ आगे बढ़ आएगा। आओ, हम में से प्रत्येक, दिन और रात, उन करोड़ों पददलित भारतियों के कल्याण के हेतु प्रार्थना करे, जो दरिद्रता, पुरोहितों के छल तथा अनेक प्रकार के अत्याचारों द्वारा जकड़े हुए हैं। दिन-रात उन्हीं के लिए प्रार्थना करो। मैं उच्च तथा धनिकों की अपेक्षा उनको उपदेश देने की अधिक चिन्ता करता हूँ। मैं दार्शनिक नहीं हूँ, तत्त्ववेता नहीं हूँ तथा कोई संत भी नहीं हूँ, परन्तु मैं दरिद्र हूँ तथा दरिद्रों को प्रेम करता हूँ दरिद्रता एवं अज्ञान के गर्त्त में सदैव से डूबे हुए इन बीस करोड़ स्त्री-पुरुषों के दुःखों को कौन अनुभव करता है ? जो इनके दुःखों के लिए किसके हृदय में टीस होती है ? उन्हें न कहीं प्रकाश मिलता है और न शिक्षा,

उन्हें प्रकाश कौन देगा—उन्हें शिक्षा देने के लिए उनके द्वार-द्वार पर कौन भटकेगा ? तुम इन्हीं लोगों को अपना ईश्वर समझो—सदैव इन्हीं का ध्यान करो, इन्हीं के लिए कार्य करो, इनके लिए निरन्तर प्रार्थना करो। ईश्वर तुम्हारा पथ प्रदर्शन करेगा।

चरित्र-गठन के लिए शिक्षा

मनुष्य का चरित्र उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों की समष्टि है, उसके मन के समस्त झुकावों का योग है। सुख तथा दुःख उसकी आत्मा पर होकर ज्यों-ज्यों गुजरते हैं, वे उस पर अपनी-अपनी छाप अथवा संस्कार छोड़ जाते हैं तथा इन सब भिन्न-भिन्न छापों की समष्टि का फल ही मनुष्य का चरित्र कहलाता है। हम वही हैं, जो हमारे विचारों ने हमें बनाया है। हमारे शरीर पर प्रत्येक विचार लोहे के टुकड़े पर हथौड़े की हलकी चोट की भाँति हैं और हम उसके द्वारा जो कुछ बनना चाहते हैं, वह बनते जाते हैं। वाणी तो गौण है। विचार सजीव होते हैं, उनकी दौड़ बहुत दूर तक हुआ करती है। इसलिए तुम्हें अपने विचारों के सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए।

भलाई तथा बुराई दोनों का ही चरित्र-गठन में समान भाग रहता है, और कभी-कभी सुख की अपेक्षा दुःख बड़ा शिक्षक होता है। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश दशाओं में हम यही देखेंगे कि सुख की

अपेक्षा दुःख ने और सम्पत्ति की अपेक्षा दरिद्रता ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है तथा स्तुति की अपेक्षा निन्दा ने ही उनकी अन्तःस्थित ज्ञानाग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है। विलास एवं ऐश्वर्य की गोद में पलते हुए, गुलाब के पुष्पों की शैया पर सोते हुए तथा कभी भी आँसू बहाए बिना महान् पुरुष कौन हुआ है? जब हृदय में वेदना की टीस होती है, जब दुःख का तूफान चारों दिशाओं में घुमड़ आता हैं, जब यह ज्ञात होता है कि अब और कभी प्रकाश दिखाई नहीं देगा, जब आशा तथा साहस नष्टप्राय हो जाते हैं, उस समय इस भयानक आध्यात्मिक झंझावात के बीच अन्तर्निहित ब्रह्मज्योति प्रकाशित होती है।

यदि मन को झील की उपमा दी जाय, तो उसमें उठने वाली प्रत्येक लहर, प्रत्येक तरंग जब दब जाती है, तो वह वास्तव में बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती, अपितु ऐसी सम्भावना का निर्माण कर जाती है, जिससे वह लहर फिर दुबारा उठ सके। हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे हृदय पर किसी तरह का एक संस्कार छोड़ जाता है, और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से चाहे स्पष्ट न हो, फिर भी अज्ञात रूप से ये भीतर ही भीतर कार्य करते रहने में अत्यन्त प्रबल होते हैं। प्रत्येक मुहूर्त में जो कुछ है, वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ संस्कारों की प्रबलता रहे, तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है, और यदि अशुभ संस्कारों की प्रबलता रहे, तो बुरा होता है। यदि कोई मनुष्य सदैव बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे, तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से परिपूर्ण हो जाएगा तथा उसके जाने बिना ही वे संस्कार उसके सभी विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डाल देंगे। वास्तव में ये बुरे संस्कार अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं। य संस्कार उसमें दुष्कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति को उत्पन्न कर देंगे और वह इन संस्कारों के हाथ में एक यंत्र की भाँति हो जाएगा।

इसी तरह यदि कोई मनुष्य अच्छे विचार सोचे तथा अच्छे कार्य करे, तो उससे इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा, और उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कार्य करने के लिए विवश कर देंगे। जब मनुष्य इतने सत्कार्य तथा सत्चिन्तन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति का उदय हो जाता है, उस समय फिर यदि वह दुष्कर्म करना भी चाहे, तो इन सब संस्कारों का समष्टि रूप उसका मन उसे वैसा करने से तुरन्त रोक देगा। उस समय वह अपने सत्संस्कारों के हाथ में एक कठपुतली की भाँति हो जाएगा। जब ऐसी स्थिति आ जाती है, उस समय उस मनुष्य का चरित्र गठित अथवा प्रतिष्ठित कहलाने लगता है। यदि तुम वास्तव में किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों द्वारा उसकी जांच मत करो। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जांच करो। वास्तव में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनके द्वारा तुम्हें किसी महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का ठीक पता लग सकता है। कुछ विशेष, बड़े अवसर तो छोटे-से-छोटे मनुष्य को भी किसी-न-किसी तरह का बड़प्पन दे देते हैं, परन्तु वास्तव में बड़ा तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सभी अवस्थाओं में महान् रहता है।

इस तरह के बहुत से संस्कार मन में पड़ने पर वे एकत्र होकर आदत अथवा अभ्यास के रूप में बदल जाते हैं। कहा जाता है–'आदत, दूसरा स्वभाव है।' परन्तु यही नहीं, वह 'पहला' स्वभाव भी है तथा मनुष्य का सम्पूर्ण स्वभाव है। हमारा भी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का फल है। यह जान सकने से कि सब कुछ आदत का ही फल है, मन को सान्त्वना मिलती है, क्योंकि यदि हमारा वर्त्तमान स्वभाव केवल अभ्यासवश हुआ, तो यदि हम चाहें तो उस अभ्यास को किसी भी समय नष्ट भी कर सकते हैं। बुरी आदत का एकमात्र प्रतिकार उसकी विपरीत आदत है। सभी खराब आदतें अच्छी आदतों द्वारा वशीभूत की जा सकती हैं। निरन्तर शुभ कार्य करते रहो तथा

मन में सदैव पवित्र विचारों को आने दो। नीच संस्कारों को दबाने का यही एकमात्र उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक व्यक्ति गया बीता है, उसके सुधरने की आशा भी नहीं की जा सकती। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशेष प्रकार के चरित्र का कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है और यह अभ्यास नए तथा अच्छे अभ्यास से दूर किए जा सकते हैं। चरित्र तो बार-बार अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस तरह का बार-बार का अभ्यास भी चरित्र का पुनर्गठन कर सकता है।

सभी बुराइयों का कारण हमारे भीतर विद्यमान है। किसी दैवी व्यक्ति को दोष मत दो। न निराश होओ और न खिन्न। और यह भी मत सोचो कि हम ऐसी अवस्था में पड़े हैं, जहाँ से तबतक कभी भी छुटकारा नहीं पा सकते, जबतक कि कोई आकर हमें अपने हाथ का सहारा नहीं देता। हम रेशम के कीड़े की भाँति हैं। हम अपने आप में से ही सूत निकाल कर कोष का निर्माण करते हैं तथा कुछ समय पश्चात् उसी के भीतर कैद हो जाते हैं। अपने चारों ओर कर्म के इस जाल को हमीं ने बुन रक्खा है। अपने अज्ञान के कारण हमें ऐसा लगता है कि हम कैद हैं और इसीलिए हम सहायता के हेतु रोते-चिल्लाते हैं। परन्तु सहायता कभी बाहर से नहीं आती। वह तो हमारे भीतर से ही आती है। तुम चाहो तो संसार के सभी देवताओं को पुकारते रहो, मैं भी बरसों तक पुकारता रहा, और अन्त में यह देखा कि मुझे सहायता मिल रही है, परन्तु वह सहायता मिली भीतर से ही। भ्रान्तिवश इतने दिन तक जो अनेक तरह के कार्य करता रहा, उस भ्रान्ति को मुझे दूर करना पड़ा। मैंने अपने चारों ओर जो जाल फैला रक्खा था, मुझे उसे काट डालना पड़ा। मैंने अपने जीवन में अनेक गलतियाँ की हैं, परन्तु यह याद रहे कि उन गलतियों को किए बिना मैं आज जो हूँ, वह नहीं रहता। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि तुम घर जाओ और जान बूझकर गलतियाँ करो, मेरे

कहने का ऐसा उलटा अर्थ मत लगाना । परन्तु जो गलतियाँ तुम कर चुके हो, उनके कारण निराश मत होओ ।

हम गलतियाँ क्यों करते हैं ?—इसलिए कि हम दुर्बल हैं । हम दुर्बल क्यों हैं ?—इसलिए कि हम अज्ञानी हैं । हमें अज्ञानी कौन बनाता है ?—हम स्वयं ही अज्ञानी बनते हैं । हम अपनी आँखों को अपने हाथों से ढक लेते हैं और "अंधेरा है ! अंधेरा है" कहकर रोते हैं । यदि हाथ हटालो, तो प्रकाश ही प्रकाश है । मनुष्य की आत्मा स्वभाव से ही स्वयं प्रकाश है । अतः हमारे लिए प्रकाश का अस्तित्व सदैव ही है । आधुनिक वैज्ञानिक लोग जो कहते हैं, क्या तुम उसे नहीं सुनते ? क्रमविकास का क्या कारण है ?—इच्छा । जीवधारी कुछ करना चाहता है, परन्तु परिस्थिति को अनुकूल नहीं पाता, अतः वह नए शरीर का निर्माण कर लेता है । यह निर्माण कौन करता है ?—स्वयं वही । जीवधारी ही, उसकी इच्छाशक्ति ही । अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करते रहो, तो वही तुम्हें ऊपर उठाती चली जाएगी । इच्छाशक्ति सर्व शक्तिमान है, तुम पूछ सकते हो कि यदि वह वास्तव में सर्वशक्तिमान है, तो फिर मैं सब कुछ क्यों नहीं कर सकता ? परन्तु तुम तो केवल अपनी क्षुद्र आत्मा के सम्बन्ध में सोच रहे हो, अपनी निम्नतम जीवाणु (amoeba) की अवस्था से लेकर मनुष्य शरीर तक इस सम्पूर्ण जीवन शृंखला पर दृष्टि डालो । यह सब किसने बनाया ? तुम्हारी स्वयं की इच्छाशक्ति ने ! क्या तुम उसकी सर्वशक्तिमत्ता को अस्वीकार कर सकते हो ? जिसने तुम्हें इतना ऊँचा उठाया है, वह तुम्हें और भी ऊंचा ले जा सकती है । आवश्यकता है तो केवल चरित्र-बल की. इच्छाशक्ति को सबल बनाने की ।

यदि तुम अपनी गलतियों के नाम पर, घर जाकर, मस्तक पर हाथ रखकर जीवन भर रोते रहो, तो उससे तुम्हारा उद्धार नहीं होगा, अपितु तुम उससे और भी अधिक दुर्बल हो जाओगे । यदि कोई कमरा सहस्र वर्षों से अन्धकार पूर्ण हो और यदि तुम उसमें

जाकर "हाय, हाय, बड़ा अँधेरा है" कहकर रोने लगो, तो क्या उससे अँधेरा चला जाएगा ? दियासलाई जलाओ तो वह अन्धकार क्षण भर में ही दूर हो जाएगा। यदि तुम जीवन भर यह अफसोस करते रहो कि 'अरे, मैंने अनेक दुष्कर्म किए, वहुत-सी गलतियां कीं' तो उससे क्या लाभ होगा ? हममें वहुत से दोष हैं, यह किसी को बताना नहीं पड़ता। ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करो, तो क्षण भर में ही सब अशुभ चला जाएगा। अपने चरित्र का निर्माण करो तथा अपने यथार्थ स्वरूप को उसी ज्योतिर्मय, उज्ज्वल, नित्य-शुद्ध-स्वरूप को प्रकाशित करो और प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा को जागृत करो।

स्त्री शिक्षा

यह समझना अत्यन्त कठिन है कि इस देश में स्त्रियों तथा पुरुषों के बीच इतना भेद क्यों रक्खा गया है, जब कि वेदान्त की यह घोषणा है कि सभी प्राणियों में वही एक आत्मा विद्यमान है। स्मृतियाँ आदि लिखकर तथा स्त्रियों पर कड़े नियमों का बंधन डाल कर पुरुषों ने उन्हें केवल सन्तानोत्पादक यंत्र बना रक्खा है। अवनति के युग में जब कि पुरोहितों ने अन्य जातियों को वेदाध्ययन के अयोग्य ठहराया, उसी समय उन्होंने स्त्रियों को भी अपने अधिकारों से वंचित कर दिया, जब कि वैदिक औपनिषदिक युग में मैत्रेयी, गार्गी आदि पुण्यस्मृति महिलाओं ने ऋषियों का स्थान ले लिया था एवं सहस्र वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में भी गार्गी ने याज्ञवल्क्य को ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा था।

सभी उन्नत राष्ट्रों ने स्त्रियों को समुचित सम्मान देकर ही महानता प्राप्त की है। जो देश, जो राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो पाए और न भविष्य में ही कभी बड़े होंगे। सच्चा

शक्ति-पूजक तो वह है, जो यह जानता है कि ईश्वर विश्वव्यापी शक्ति है। और जो स्त्रियों में उस शक्ति का प्रकाश देखता है। अमेरिका में पुरुष अपनी महिलाओं को इसी दृष्टि से देखते हैं और उनके साथ उत्तम व्यवहार करते हैं, इसीलिए वे लोग सुसम्पन्न हैं, विद्वान हैं। इतने स्वतंत्र तथा शक्तिशाली हैं। हमारे देश के पतन का मुख्य कारण यह है कि हमने शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं के प्रति आदर-बुद्धि नहीं रक्खी। मनु महाराज का कथन है—'जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं, जहां उनका आदर नहीं होता, वहां सभी कार्य एवं प्रयत्न निश्फल हो जाते हैं। जहां ये स्त्रियां उदासीन तथा दुखी जीवन व्यतीत करती हैं, उस कुटुम्ब अथवा देश की उन्नति की कोई आशा नहीं हो सकती।

स्त्रियों की बहुत-सी कठिन समस्याएं हैं, परन्तु उनमें एक भी ऐसी नहीं है, जो उस जादू भरे शब्द 'शिक्षा' के द्वारा हल न हो सके। हमारे मनु महाराज की क्या आज्ञा है? पुत्रियों का लालन-पालन तथा शिक्षा उतनी ही सावधानी एवं तत्परतासे होनी चाहिए जितनीकि पुत्रों की। जिस प्रकार पुत्र का विवाह तीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् होना चाहिए, उसी तरह पुत्रियों को भी ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए और उन्हें भी माता-पिता द्वारा शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए। परन्तु हम लोग वास्तव में कर क्या रहे हैं? उन लोगों को सदैव असहाय अवस्था में रहने तथा दूसरों पर गुलाम की भाँति अवलम्बित रहने की शिक्षा दी जाती है। इसीलिए तनिक भी दुःख अथवा भय का अवसर आने पर वे आँखों से आँसू बहाने के अतिरिक्त अन्य किसी योग्य नहीं रहतीं। स्त्रियों को ऐसी अवस्था में रखना चाहिए कि वे अपनी समस्याओं को अपने ही तरीके से हल करें। हमारी भारतीय स्त्रियाँ इस कार्य में संसार की अन्य स्त्रियों की भाँति ही दक्ष हैं।

स्त्री शिक्षा का विस्तार धर्म को केन्द्र बनाकर करना चाहिए। धर्म के अतिरिक्त अन्य शिक्षाएं गौण होंगी। धार्मिक शिक्षा चरित्र-

गठन, ब्रह्मचर्य-पालन इन्हीं की ओर ध्यान देना चाहिए। हमारी हिन्दू स्त्रियाँ, सतीत्व का अर्थ सरलता पूर्वक समझ लेती हैं, क्यों कि यह उनका आनुवंशिक गुण है। सर्व प्रथम उनमें यह आदर्श अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ किया जाय, ताकि उनका चरित्र सवल वने और यह उनके जीवन की प्रत्येक अवस्था में रहना चाहिए। चाहे वे विवाहित हों या अविवाहित (यदि वे अविवाहित रहना पसंद करें तो) पवित्रता से रंच भर भी डिगने की अपेक्षा, विना किसी हिचक के अपने प्राण तक देने के लिए प्रस्तुत रहें।

भारतवर्ष की स्त्रियों को सीता के पदचिन्हों का अनुसरण करके अपनी उन्नति करनी चाहिए। सीता का चरित्र अनुपम है। वह सच्ची भारतीय स्त्री की जीवित-जाग्रत प्रतिमा हैं। पूर्ण विकसित नारीत्व के सभी भारतीय आदर्श सीता के चरित्र से उत्पन्न हुए हैं। यह महामहिमामयी सीता, स्वयं शुद्धता से भी शुद्ध, सहिष्णुता की परमोच्च आदर्श सीता, आर्यावर्त्त के इस विस्तृत भूमि-खंड में सहस्रों वर्ष से आबाल, वृद्ध, वनिता की आराध्वा बनी हुई हैं। जिसने अविचलित भाव से, मुँह से एक आह भी निकाले विना ऐसा कष्टमय जीवन व्यतीत किया, वह नित्यसाध्वी, सदैव शुद्ध स्वभाव सीता, आदंश पत्नी सीता, मनुष्यलोक—यहां तक कि देवलोक की भी आदर्श मूर्ति पुण्य चरित्र सीता चिरकाल के लिए हमारी जातिय देवी वनी रहेगी। वह हमारी जाति की नस-नस में समा गई है। हमारी नारियों को आधुनिकता के रङ्ग में रंगने के जो प्रयत्न हो रहे हैं, यदि उन सव प्रयत्नों में उन्हें सीता-चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी, तो वे सव तुरन्त असफल हो जाएँगे और हम इसके उदाहरण प्रतिदिन ही देख रहे हैं।

इस युग की वर्त्तमान आवश्यकताओं का अध्ययन करने पर यह आवश्यक दिखाई पड़ता है कि उनमें से कुछ को वैराग्य के आदर्श की शिक्षा दी जाय, ताकि वे युगान्तर से अपने रक्त में संजात ब्रह्मचर्य रूपी सदगुण की ज्योति से प्रज्ज्वलित होकर आजीवन कुमारी व्रत का

पालन करें। हमारी जन्म-भूमि को अपनी उन्नति के लिए अपनी कुछ संतानों को विशुद्धात्मा ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी बनाने की आवश्यकता है। यदि स्त्रियों में से एक भी ब्रह्मज्ञानिनी होगई, तो उसके व्यक्तित्व के तेज से सहस्रों स्त्रियों को स्फूर्ति प्राप्त होगी तथा वे सत्य के प्रति जागरुक हो जाएँगी, इससे देश तथा समाज का अत्यन्त उपकार होगा।

सुशिक्षिता तथा चरित्रवान ब्रह्मचारिणियां शिक्षा प्रचार का भार अपने ऊपर लें। ग्रामों तथा नगरों में केन्द्र खोल कर स्त्री शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न करें। ऐसे सच्चरित्र, निष्ठावान् उपदेशकों द्वारा देश में स्त्री-शिक्षा का वास्तविक प्रसार होगा। इतिहास तथा पुराणों, गृह-व्यवस्था एवं कला-कौशल, गार्हस्थ्य जीवन के कर्तव्य तथा चरित्र-गठन के सिद्धान्तों की शिक्षा देनी होगी। अन्य विषय, जैसे सीना-पिरोना, गृह कार्य नियम, शिशुपालन आदि भी सिखाए जाएँगे। जप, पूजा तथा ध्यान शिक्षा के अनिवार्य अंग होंगे। अन्य गुणों के साथ उन्हें शूरता तथा वीरता के भाव भी प्राप्त करने होंगे। आधुनिक युग में उन्हें आत्मरक्षा के उपाय सीख लेना भी आवश्यक हो गया है। झांसी की रानी कैसी अपूर्ण स्त्री थी? बस, इसी तरह हम भारतवर्ष के लिए संघमित्रा, लीला, अहिल्यावाई तथा मीरावाई के आदर्शों को चरित्रार्थ करने वाली एवं पवित्रता, निर्भयता तथा ईश्वर के पाद स्पर्श द्वारा प्राप्त शक्ति के कारण वीरमाता बनने योग्य निर्भय स्त्रियों को सामने लाएँगे। हमें यह भी देखना होगा कि वे समय पर घर की आदर्श माता बनें। जिन सदगुणों के कारण हमारी ये माताएँ प्रसिद्ध हैं, उनकी सन्तानें उन सदगुणों की और भी वृद्धि करेंगी। शिक्षित माताओं के घर में ही महापुरुष जन्म लेते हैं।

यदि स्त्रियां उन्नत हो जाँय तो उनके बालक अपने कार्यों द्वारा देश के नाम को उज्ज्वल करेंगे। उस समय देश में संस्कृति, ज्ञान, शक्ति तथा भक्ति फिर से जागृत हो उठेगी।

स्त्रियों के लिए शिक्षा कैसी हो

शिष्य वर्त्तमान समय में स्त्रियों को किस तरह की शिक्षा की आवश्यकता है ?

स्वामीजी—धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृह कार्य, स्वास्थ्य, रसोई, सीना पिरोना आदि सभी विषयों का स्थूल मर्म उन्हें सिखाना उचित है। नाटक तथा उपन्यास तो उनके समीप तक पहुंचने ही नहीं चाहिए। महाकाली पाठशाला कई बातों में ठीक मार्ग पर चल रही है, परन्तु केवल पूजा पद्धति सिखाने से ही काम नहीं चलेगा। सब विषयों में उनकी आखें खोल देना उचित है। छात्राओं के समक्ष सदैव आदर्श नारी चरित्र रखकर, उनका अनुराग त्याग रूप व्रत में उत्पन्न करना होगा। सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, पन्ना, मीराबाई आदि के जीवन चरित्र कुमारियों को समझाकर, उन्हें अपने जीवन को इसी तरह गढ़ने का उपदेश देना होगा।

परन्तु याद रहे कि सर्व साधारण में तथा स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुए विना उन्नति का अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः मेरी इच्छा कुछ ब्रह्मचारी एवं

ब्रह्मचारिणियाँ बनाने की है। ब्रह्मचारीगण समय पर सन्यास लेकर देश-देश, गाँव-गाँव में जाएंगे एवं सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रसार करने का प्रबन्ध करेंगे तथा ब्रह्मचारिणियाँ स्त्रियों में विद्या का प्रसार करेंगी। परन्तु यह सब कार्य अपने ही देश के ढंग पर होना चाहिए। जैसा शिक्षा केन्द्र पुरुषों के लिए बनाना होगा, वैसा ही स्त्रियों के लिए भी करना होगा। शिक्षित तथा सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियां इस केन्द्र में कुमारियों को शिक्षा दिया करेंगी। पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी के सम्पूर्ण नियम आदि की शिक्षा वर्त्तमान विज्ञान् की सहायता द्वारा देनी होगी एवं आदर्श चरित्र-गठन करने के हेतु उपयुक्त तत्त्वों की शिक्षा भी देनी होगी। कुमारियों को धर्म परायण तथा नीति परायण बनाना होगा। वे जिस प्रकार भविष्य में अच्छी गृहिणी हों, वही कार्य करना होगा। इन कन्याओं से जो सन्तानें उत्पन्न होंगी, वे इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेंगी। जहां माता शिक्षित तथा नीति परायण है, वहीं बड़े लोग जन्म लेते हैं। वर्तमान समय में तो स्त्रियों को काम करने का यंत्र-सा बना रक्खा है। राम ! राम ! तुम्हारी शिक्षा का क्या यही फल निकला ? सर्वसाधारण को जगाना होगा, तभी भारत का कल्याण होगा।

मेरे जीवन की यही महत्वाकांक्षा है कि इस तरह के साधन निर्माण किए जांय, जिनके द्वारा भारत के घर-घर में उच्च एवं महान् आदर्श पहुंच सकें। उसके बाद स्त्री-पुरुष स्वयं ही अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। प्रत्येक भारतीय को यह ज्ञान रहे कि जीवन के महान प्रश्नों पर उसके पूर्वजों तथा अन्य राष्ट्रों के विद्वानों के क्या विचार हैं ? विशेषकर उसे इस बात का ज्ञान हो कि आज संसार क्या कर रहा है, और फिर वह अपने कार्य की शिक्षा को निश्चित करे।

शिष्य—स्वामी जी, भारतवर्ष के इतिहास में अत्यन्त प्राचीनकाल में स्त्रियों के लिए किसी मठ की बात नहीं मिलती। स्त्री-मठ की बात बौद्ध युग में ही सुनी जाती है परन्तु उसके फल-स्वरूप अनेक तरह के व्यभिचार होने लगे थे। सम्पूर्ण देश घोर वामाचार से भर गया था।

स्वामीजी—इस देश में पुरुष तथा स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त शास्त्र में तो यह कहा है कि सभी भूतों में एक चित्सत्ता विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की निन्दा ही करते हो, परन्तु उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया, उसे बताओ? स्मृति आदि लिखकर, नियम नीति में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को एकदम बच्चा पैदा करने की मशीन बना डाला है, जगदम्बा की साक्षात् मूर्ति इन स्त्रियों का उत्थान हुए बिना क्या तुम लोगों की उन्नति सम्भव है?

शिष्य—स्वामीजी, स्त्री जाति साक्षात् माया की मूर्ति है, जैसे मनुष्य के अधःपतन के लिए ही उसका सृजन हुआ है। स्त्री जाति ही माया के द्वारा मनुष्यके ज्ञान-वैराग्य को आवृत कर देती है। हो सकता है, शास्त्रों ने इसलिए यह इंगित किया है कि उनके लिए ज्ञान, भक्ति को प्राप्त रखना अत्यन्त कठिन है।

स्वामीजी—इस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं? भारतवर्ष के अवनति काल में जब ब्राह्मण पंडितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेद-पाठ का अनधिकारी घोषित किया, तो उन्होंने साथ ही स्त्रियों के सब अधिकार भी छीन लिए। अन्यथा वैदिक युग में, उपनिषद युग में देखो कि मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रातः स्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्म-विचार में ऋषि तुल्य हो गई थीं। सहस्र वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ ब्रह्म ज्ञान के शास्त्रार्थ के हेतु याज्ञवल्क्य को आमंत्रित किया था। इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उस समय आध्यात्म ज्ञान का अधिकार था, तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों नहीं रहेगा? जो एक बार हुआ है, वह फिर अवश्य हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है। सभी जातियाँ स्त्रियों की पूजा करके बड़ी बनी हैं। जिस देश, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वह देश, वह जाति, कभी भी बड़ी नहीं बनी और न कभी बन ही सकेगी। तुम्हारी जाति

का जो इतना अधःपतन हुआ है, उसका मुख्य कारण इन सब शक्ति मूर्तियों का अपमान करना ही है। मनु महाराज ने कहा है—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्तेः रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु नपूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥"

जहाँ पर स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, जहाँ पर वे दुखी रहती हैं, उस परिवार की, उस देश की उन्नति की आशा कभी नहीं की जा सकती। अतः पहले इन्हें उठाना होगा। इनके लिए आदर्श मठ की स्थापना करनी होगी।

शिष्य—स्वामीजी, पहली बार विलायत से लौटकर आपने स्टार थियेटर कलकत्ता में भाषण देते हुए तंत्र की कितनी निन्दा की थी, अब आप तंत्रों द्वारा समर्पित स्त्री-पूजा का समर्थन करके अपनी ही बात को बदल रहे हैं!

स्वामीजी—तंत्रों के वामाचार मत का जो विकृत वर्त्तमान रूप है, मैंने उसी की निन्दा की थी। तंत्रों में कहे गए मातृभाव की अथवा यथार्थ वामाचार की निन्दा मैंने नहीं की। तंत्र का उद्देश्य स्त्रियों को भगवती मानकर उनकी पूजा करना ही है। बौद्ध धर्म के अधः पतन के समय वामाचार घोर दूषित हो गया था। आज कल के वामाचार में भी वही दूषित भाव विद्यमान है। भारत के तंत्र शास्त्र अभी तक उसी भाव से प्रभावित हैं। मैंने उन सब वीभत्स प्रथाओं की ही निन्दा की थी और अभी भी करता हूँ। जिस महामाया का रूप-रसात्मक वाह्य विकास मनुष्य को पागल बनाए रखता है, जिस महामाया का ज्ञान-भक्ति, विवेक, वैराग्यात्मक अन्तर्विकास मनुष्य को सर्वज्ञ, सिद्ध संकल्प, ब्रह्मज्ञ बना देता है, उस महामाया की प्रत्यक्ष मूर्ति, इन स्त्रियों की पूजा करने का निषेध मैंने कभी नहीं किया।"सैवा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये'इस महामाया को पूजा प्रणाम द्वारा प्रसन्न न कर पाने पर क्या मजाल है कि ब्रह्मा, विष्णु तक उनके पंजे से

छूटकर मुक्त हो जाँय ? गृहलक्ष्मियों की पूजा के उद्देश्य से, उनमें ब्रह्म-विद्या के विकास के हेतु ही, उनके लिए मठ बनवा कर जाऊँगा।

शिष्य—सम्भव है कि आपका यह संकल्प अच्छा हो, परन्तु स्त्रियाँ कहाँ से मिलेंगी ? समाज के बड़े बन्धन के रहते हुए भी कुल-वधुओं को स्त्री-मठ में जाने की अनुमति कौन देगा ?

स्वामीजी—क्यों ? अभी भी श्रीरामकृष्ण की कितनी ही भक्तिमती लड़कियाँ है। उनसे स्त्री-मठ का प्रारम्भ करके जाऊंगा। श्री माताजी उनका केन्द्र बनेंगी श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों की पत्नियाँ और पुत्रियाँ आदि उसमें पहले-पहल निवास करेंगी, क्योंकि वे इस तरह के स्त्री-मठ की उपकारिता को सरलता पूर्वक समझ सकेंगी। उसके पश्चात् उन्हें देखकर अन्य गृहस्थ लोग भी इस शुभ कार्य के सहायक बनेंगे।

शिष्य—श्रीरामकृष्ण के भक्तगण इस कार्य में अवश्य ही सम्मिलित होंगे, परन्तु साधारण लोग भी इस कार्य में सहायक होंगे, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता।

स्वामीजी—संसार का कोई महान् कार्य बिना त्याग के नहीं हुआ है। वटवृक्ष के अंकुर को देखकर यह कौन समझ सकता है कि समय आने पर वह एक विराट वृक्ष बनेगा ? अभी तो इसी रूप में स्थापना करूँगा। फिर देखना, एक-दो पीढ़ी के बाद अन्य सभी देश-वासी इस मठ का सम्मान करने लगेंगे। ये जो विदेशी स्त्रियाँ मेरी शिष्या बनी हैं, ये ही इस कार्य में अपने जीवन का उत्सर्ग करेंगी। तुम लोग भय तथा कापुरुषता को त्यागकर, इस महान् कार्य में लग जाओ तथा इस उच्च आदर्श को सभी के समक्ष रक्खो। देखना, समय पाकर इसकी प्रभा से सम्पूर्ण देश उज्ज्वल हो उठेगा।

शिष्य—महाराज ! आप स्त्रियों के लिए किस तरह का मठ बनाना चाहते हैं, कृपा कर मुझे विस्तार पूर्वक बताइए ? मैं सुनने के लिए अत्यधिक उत्सुक हूँ।

स्वामीजी—गंगाजी के उस पार एक बड़ा भूखंड लिया जाएगा। उसमें अविवाहित बालिकाएँ रहेंगी एवं विधवा ब्रह्मचारिणियाँ भी रहेंगी। साथ ही उसमें गृहस्थ घरों की भक्तिमती स्त्रियाँ भी बीच-बीच में आकर ठहर सकेंगी। इस मठ से पुरुषों का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। पुरुष-मठ के वृद्ध साधुगण दूर से ही स्त्री-मठ का कार्य चलाएंगे। स्त्री-मठ में लड़कियों का एक विद्यालय रहेगा। उसमें धर्म-शास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण तथा साथ ही थोड़ी बहुत अंग्रेजी भी सिखाई जाएगी। सिलाई का कार्य, रसोई बनाना, घर-गृहस्थी के सभी नियम एवं शिशु-पालन के छोटे-मोटे विषयों की भी शिक्षा दी जाएगी। साथ ही जप, ध्यान तथा पूजा आदि भी शिक्षा के अंग रहेंगे। जो स्त्रियाँ घर छोड़कर सदैव के लिए वहाँ रह सकेंगी, उनके भोजन वस्त्रादि का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जाएगा। जो ऐसा नहीं कर सकेंगी, वे इस मठ में दैनिक छात्राओं के रूप में आकर अध्ययन करेंगी। यदि सम्भव होगा, तो वे मठ के अध्यक्ष की अनुमति से वहां पर रहेंगी तथा जितने दिन तक रहेंगी, वहां से भोजन भी पाएँगी। स्त्रियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के हेतु वृद्ध ब्रह्मचारिणियाँ छात्राओं की शिक्षा का भार उठाएँगी। इस मठमें पांच-सात वर्ष तक शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त लड़कियों के अभिभावकगण उनका विवाह कर दे सकेंगे। यदि कोई लड़की अधिकारिणी समझी जाएगी, तो वह अपने अभिभावकों की सम्मति लेकर वहाँ पर चिर कौमार्यव्रत का पालन करती हुई रह सकेगी। जो स्त्रियां चिर कौमार्यव्रत का आश्रय लेंगी, वे ही समय पाकर उस मठ की शिक्षिकाएँ तथा प्रचारिकाएँ बन जाएँगी एवं गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में शिक्षा केन्द्र खोलकर स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार का प्रयत्न करेंगीं। चरित्रवान्, धार्मिकभाव-सम्पन्न उस तरह की प्रचारिकाओं द्वारा देश में वास्तव में स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा। वे स्त्री-मठ के सम्पर्क में जितने दिन रहेंगी, उतने दिन तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा।

धर्म-परायणता, त्याग तथा संयम यहाँ की छात्राओं के अलंकार होंगे तथा सेवा-धर्म उनके जीवन का व्रत होगा। इस तरह आदर्श जीवन देखने पर उनका सम्मान कौन नहीं करेगा और उन पर अविश्वास भी कौन कर सकेगा? देश की स्त्रियों का जीवन इस प्रकार गठित हो जाने पर तुम्हारे देश में सीता, सावित्री, गार्गी आदि का फिर से आविर्भाव हो सकेगा? देशाचार के घोर वन्धन से प्राणहीन, स्पदनहीन वन कर तुम्हारी लड़कियाँ कितनी दयनीय वन गई हैं। इसे तुम एक वार पाश्चात्य देशों की यात्रा करने पर ही समझ सकोगे। स्त्रियों की इस दुर्दशा के लिए तुम्हीं लोग उत्तरदायी हो। देश की स्त्रियों को फिर से जगाने का भार भी तुम्हीं पर है। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि काम में लग जाओ। वेद-वेदान्त आदि को केवल रट लेने से ही क्या होगा?

शिष्य—महाराज! यहाँ पर शिक्षा पाने के वाद भी यदि लड़कियाँ विवाह कर लेंगी, तो फिर उनमें लोग आदर्श-जीवन किस तरह देख सकेंगे? क्या यह नियम अच्छा नहीं होगा कि जो छात्राएँ इस मठ में शिक्षा प्राप्त करेंगी, वे फिर विवाह नहीं कर सकेंगी?

स्वामीजी—ऐसा क्या एकदम ही होता है? शिक्षा देकर उन्हें छोड़ देना होगा। उसके वाद वे स्वयं ही सोच-समझ कर जो उचित होगा, सो करेंगी। विवाह करके गृहस्थी में लग जाने पर भी वैसी लड़कियाँ अपने पति को उच्चभाव की प्रेरणा देंगी तथा वीर पुत्रों की माता वनेंगीं, परन्तु यह नियम रखना होगा कि स्त्री-मठ की छात्राओं के अभिभावकगण पन्द्रह वर्ष की आयु से पूर्व उनके विवाह का नाम नहीं लेंगे।

शिष्य—स्वामीजी! फिर तो समाज उन सव लड़कियों की निन्दा करने लगेगा, उनसे कोई भी विवाह नहीं करना चाहेगा।

स्वामी जी—क्यों नहीं? तुम समाज की गति को अभी तक नहीं समझ सके हो। इन सव विदुषी तथा कुशल लड़कियों के लिए वरों

की कमी नहीं रहेगी। 'दशमे कन्यकाप्राप्ति'—इन सब वचनों पर आज का समाज नहीं चल रहा है—चलेगा भी नहीं, क्या तुम इसे अभी नहीं देख पा रहे हो?

शिष्य—आप चाहे कुछ भी कहें, परन्तु पहले-पहल इसके विरोध में एक प्रवल आन्दोलन अवश्य उठेगा।

स्वामीजी—आन्दोलन का भय क्या है? सात्विक साहस से किए गए सत्कर्म में बाधा होने पर कार्य करने वालों की शक्ति और भी जग उठेगी। जिसमें बाधा नहीं है अवरोध नहीं है, वह मनुष्य को मृत्यु के मार्ग में ले जाता है। संघर्ष ही जीवन का चिह्न है, समझे?

शिष्य—जी हां!

स्वामीजी—परब्रह्म तत्त्व में लिंग भेद नहीं है। लिंग भेद तो हमें 'मैं और तुम' की भूमिका में ही दिखाई पड़ता है। मन जितना ही अन्तर्मुख होता जाता है, वह भेद-ज्ञान उतना ही लुप्त होता जाता है, अन्त में जब मन एकरस ब्रह्मतत्त्व में डूब जाता है, तब 'यह स्त्री, वह पुरुष'—ऐसा भेदज्ञान बिलकुल नहीं रह जाता। श्रीरामकृष्ण में मैंने यह ज्ञान प्रत्यक्ष देखा है, इसीलिए मैं यह कहता हूँ कि स्त्री-पुरुषों में वाह्य भेद रहने पर भी, स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अतः यदि पुरुष ब्रह्मज्ञ बन सकें, तो स्त्रियाँ भी ब्रह्मज्ञ क्यों नहीं बन सकेंगी? इसीलिए मैं कह रहा था कि समय आने पर यदि एक भी स्त्री ब्रह्मज्ञ बन सकी, तो उसकी प्रतिभा द्वारा सहस्रों स्त्रियाँ जग उठेंगी तथा देश एवं समाज का वहुत कल्याण होगा, अब समझे?

शिष्य—स्वामीजी! आज आपके उपदेश से मेरी आँखें खुल गई हैं।

स्वामीजी—अभी क्या खुली हैं? जब तुम सब-कुछ उद्भाषित करने वाले आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष करोगे, तब देखोगे कि यह स्त्री-पुरुष के भेद का ज्ञान एकदम लुप्त हो जाएगा, तभी स्त्रियाँ ब्रह्मरूपिणी प्रतीत होंगी। श्रीरामकृष्ण को देखा है! सभी स्त्रियों के प्रति मातृ-

भाव—फिर वह चाहे किसी भी जाति की कैसी भी स्त्री क्यों न हो। मैंने देखा है न,—इसीलिए में तुम लोगों को इतना समझाकर वैसा बनने के लिए कहता हूँ तथा लड़कियों के लिए गाँव-गाँव में पाठशालाएँ खोल कर उन्हें शिक्षित बनाने के लिए कहता हूँ। जब स्त्रियाँ शिक्षित होंगी, तभी उनकी संतान द्वारा देश का मुख उज्ज्वल होगा एवं देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, और भक्ति जग उठेगी।

शिष्य—परन्तु स्वामीजी! जहाँ तक में समझता हूँ, आधुनिक शिक्षा का विपरीत फल ही हो रहा है। लड़कियाँ थोड़ा-बहुत पढ़ लेती हैं तो कमीज और गाउन पहनना सीख जाती हैं। त्याग, संयम, तपस्या, ब्रह्मचर्य, ब्रह्मविद्या आदि विषयों में क्या उन्नति हो रही है, यह समझ में नही आता?

स्वामीजी—पहले-पहल इस तरह की कुछ भूलें हुआ ही करती है। देश में नए भाव का पहले-पहल प्रचार होने के समय कुछ लोग उस भाव को ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर पाते, परन्तु इससे विराट-समाज का कुछ बिगड़ता नहीं। फिर भी, जिन्न लोगों ने आधुनिक साधारण स्त्री-शिक्षा के लिए भी प्रारम्भ में उद्योग किया था, उनकी महानता में क्या संदेह है। वास्तविक बात तो यह है कि शिक्षा हो अथवा दीक्षा—धर्महीन होने पर इसमें कमी रह ही जाती है। अब धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा। धर्म के अतिरिक्त अन्य शिक्षाएँ गौण रहेंगी। धर्म-शिक्षा, चरित्र-गठन और ब्रह्मचर्य पालन—इन्हीं के लिए तो शिक्षा की आवश्यकता है। वर्त्तमान समय में अब तक भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उस में धर्म को गौण बनाकर रक्खा गया है। तुमने जिन सब दोषों का उल्लेख किया है, वे सब इसी कारण उत्पन्न हुए हैं, परन्तु इसमें स्त्रियों का क्या दोष है? संस्कारकगण स्वयं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करते हुए स्त्रियों को शिक्षा देने के हेतु आगे बढ़े हैं, इसीलिए उसमें इस तरह की त्रुटियाँ रह गई हैं। सभी शुभ कार्यों के प्रवर्तकों को

इच्छित कार्य के अनुष्ठान से पूर्व कठोर तपस्या की सहायता से स्वयं आत्मज्ञ हो जाना चाहिए, अन्यथा उनके कार्य में गलतियाँ निकलेंगी ही। अब समझे ?

शिष्य—जी हाँ, देखा जाता है—अनेक शिक्षित लड़कियाँ केवल नाटक-उपन्यास पढ़कर ही समय बिताया करती हैं, परन्तु पूर्वीय बंगाल की लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करके भी अनेक व्रतों का अनुष्ठान करती हैं, क्या इस भाग में भी वैसा ही करती हैं ?

स्वामीजी—भले-बुरे लोग प्रत्येक देश तथा प्रत्येक जाति में हैं। हमारा कार्य है—अपने जीवन में श्रेष्ठ कार्य करके लोगों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करना। तिरस्कार एवं निन्दा से कोई कार्य सफल नहीं होता। इससे तो लोग और भी दूर हो जाते हैं। लोग कुछ भी क्यों न कहें, विरुद्ध तर्क करके किसी को हराने का प्रयत्न मत करना। इस मायामय संसार में जो कुछ भी किया जाय, उसमें दोष तो रहेगा ही—'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'—आग रहने पर ही धुंआ उठेगा, परन्तु क्या इसीलिए निश्चेष्ट होकर बैठे रहना चाहिए ? नहीं, शक्ति भर सत्कार्य करते ही रहना होगा।

× × ×

"सबसे पहले स्त्री जाति को सुशिक्षित बनाओ, फिर वे अपने आप ही कहेंगी कि उन्हें किन सुधारों की आवश्यकता है। तुम्हें उनके प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है ?"

"उन्नति के लिए सर्वप्रथम स्वाधीनता की आवश्यकता है। यदि तुम में से कोई यह कहने का साहस करे कि मैं अमुक स्त्री अथवा अमुक लड़के की मुक्ति के लिए कार्य करूंगा, तो यह अत्यन्त अन्याय एवं भूल होगी। मुझसे बार-बार यह पूछा जाता है कि विधवाओं तथा समस्त स्त्री जाति की उन्नति के उपाय के सम्बन्ध में आप क्या सोचते हैं ? मैं इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर देता हूँ—'क्या मैं विधवा हूँ, जो

तुम मुझसे ऐसा निरर्थक प्रश्न पूछते हो ? क्या मैं स्त्री हूँ जो तुम मुझसे वार-वार यही प्रश्न पूछते हो ? स्त्री जाति के प्रश्न को हल करने के लिए आगे बढ़ने वाले तुम कौन हो ? क्या तुम प्रत्येक विधवा एवं प्रत्येक स्त्री के भाग्यविधाता साक्षात् भगवान् हो ? अलग हट जाओ, वे अपनी समस्याओं की पूर्ति स्वयं ही कर लेंगी।"

धार्मिक शिक्षा

धर्म शिक्षा का मेरुदण्ड ही है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ धर्म से मेरा तात्पर्य मेरा, तुम्हारा अथवा अन्य किसी का धर्ममत नहीं है। यथार्थ सनातन तत्त्वों को जनता के समक्ष रखना है। सर्व प्रथम तो हमें महापुरुषों की पूजा प्रचलित करनी होगी। जो लोग इन सब सनातन सत्यों को प्रत्यक्ष कर गए हैं, उन्हें जनता के सामने आदर्श या इष्ट रूप में रखना होगा, जैसे श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, श्रीहनुमान तथा श्रीरामकृष्ण आदि। वर्त्तमान समय के लिए वृन्दावन विहारी, मुरलीधारी कृष्ण को अलग करदो तथा गीता रूपी सिंहनाद करने वाले श्रीकृष्ण के पूजन का दूर-दूर तक जोरों के साथ प्रचार करो। घर-घर में सर्व शक्ति स्वरूप जगन्माता की नित्य पूजा प्रचलित कर दो। अब हमें अधिक आवश्यकता ऐसे वीर के आदर्श की है, जिसकी नसों में सिर से पाँव तक प्रबल रजोगुण फड़कता हो, जो सत्य को जानने के लिए मृत्यु से सामना करते समय भी नहीं हिचके, जिसकी ढाल वैराग्य हो तथा तलवार बुद्धि हो। अभी हमें युद्ध क्षेत्र के साहसी योद्धा के हृदय की आवश्यकता है।

अब तुम्हें महावीर श्रीहनुमान के चरित्र को अपना आदर्श बनाना होगा। देखो, वे रामचन्द की आज्ञा मात्र से ही किस प्रकार विशाल सागर को पार कर गए। उन्हें जीवन अथवा मृत्यु से कोई नाता नहीं था। वे सम्पूर्ण रूप से इन्द्रियजित थे तथा उनकी प्रतिभा अद्भुत थी। अब तुम्हें अपना जीवन दास्यभक्ति के उस महान् आदर्श पर खड़ा करना होगा। उसके माध्यम से, क्रमशः अन्य सभी आदर्श जीवन में प्रकाशित हो जाएँगे। गुरू के श्रीचरणों में सम्पूर्ण भाव से आत्म-समर्पण तथा अटूट ब्रह्मचर्य—बस, सफलता का यही रहस्य है। एक ओर तो हनुमान् सेवादर्श के प्रतीक हैं और दूसरी ओर सिंह विक्रम के प्रतीक हैं–सम्पूर्ण संसार उनके समक्ष श्रद्धा तथा भय से सिर झुकाता है। उन्हें राम के कल्याण के लिए अपने जीवन तक का बलिदान कर देने में भी कोई हिचक नहीं है। राम की सेवा के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के प्रति वे अत्यन्त उदासीन हैं। एकमात्र श्रीरामचन्द्र की आज्ञा का पालन करना ही उनके जीवन का व्रत है। बस, हमें ऐसे ही पूर्ण हृदय से भक्ति तथा निष्ठा चाहिए।

वर्त्तमान समय में गोपियों के साथ कृष्णलीला की उपासना करना उपयोगी नहीं है। वंशी-नाद आदि से देश का पुनरुद्धार नहीं होगा। ढोल तथा करताल बजा-बजाकर एवं कीर्त्तन की मस्ती में नाच-नाच कर सम्पूर्ण जाति की अवनति होगई है। जिस अत्यन्त ऊँची साधना के लिए सबसे पहले परम पवित्रता की आवश्यकता है उसी की नकल करते-करते लोग घोर तमोगुण में डूब गए हैं। क्या हमारे देश में नगाड़े नहीं बनते? क्या भारतवर्ष में बिगुल तथा भेरियां नहीं मिलतीं? हमारे बालकों को इन बाजों की गम्भीर ध्वनि सुनाओ। बचपन से ही स्त्रैण संगीत की ध्वनि सुनते-सुनते यह देश प्रायः स्त्रियों के देश में परिणत हो गया है। अब तो डमरु तथा सिंगी बजाना नगाड़े को पीटना है, ताकि युद्ध की गम्भीर तुमुल ध्वनि उठे एवं महावीर, महावीर तथा हर-हर बम-बम के गम्भीर नाद से सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज जाँय। मनुष्य के केवल कोमल भावों को जागृत करने वाले

संगीत को कुछ समय के लिए अब बन्द कर देना है। अब तो लोगों को ध्रुपद राग सुनने का आदी बनाना है।

उदात्त वैदिक मंत्रों का मेघ गर्जना द्वारा देश में फिर से प्राणों का संचार करना है। सभी बातों में वीर पुरुष के कठोर भावों को जागृत करना है। यदि हम ऐसे आदर्श के अनुसार अपने चरित्र का गठन कर सकें, तो सहस्रों गुण स्वयं ही आजाएंगे। परन्तु इस बात की सावधानी रहे कि आदर्श से एक इंच भी न डिगने पाओ, कभी हिम्मत मत हारो। खान-पान, वेश-भूषा, सोने-बैठने, गाने-बजाने, खेलने-कूदने, सुख-दुःख आदि सभी अवस्थाओं में सदैव उच्चतम नैतिक साहस का परिचय दो। अपने मन को कभी भी दुर्बलता के वशीभूत मत होने दो। हनुमान् का स्मरण करो, कालीमाई को याद रक्खो, तो देखोगे कि सम्पूर्ण दुर्बलता तथा कायरता तुरन्त भाग जाएगी।

प्राचीन धर्मों ने कहा है "नास्तिक वह है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता।" नया धर्म कहता है "नास्तिक वह है, जो स्वयं में विश्वास नहीं करता।" परन्तु यह विश्वास केवल क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है। इस विश्वास का अर्थ है—सबके प्रति विश्वास, क्योंकि तुम सर्व स्वरूप हो। आत्म-प्रीति का अर्थ है—सभी प्राणियों पर प्रीति, सभी पशु-पक्षियों पर प्रीति, सभी वस्तुओं पर प्रीति, क्योंकि तुम सब एक हो। यह महान् विश्वास ही संसार का सुधार करेगा। स्वयं में विश्वास रखने का आदर्श ही हमारा सबसे बड़ा सहायक है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तार सहित प्रचार होता और वह कार्य रूप में परिणत हो तो मुझे निश्चय है कि हमारी बुराइयों एवं दुखों का बहुत बड़ा भाग आज तक मिट गया होता। मनुष्य जाति के सम्पूर्ण इतिहास, महान् पुरुषों तथा स्त्रियों के जीवन में यदि कोई सबसे बड़ी प्रवर्तक शक्ति थी, तो वह आत्मविश्वास की शक्ति ही थी। जन्म से ही यह विश्वास रहने के कारण कि वे महान् होने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं, वे महान् बने।

अनन्त शक्ति ही धर्म है। बल पुण्य है तथा दुर्बलता पाप है। सभी पापों तथा सभी बुराइयों के लिए एक ही शब्द पर्याप्त है, और वह है—दुर्बलता। दुर्बलता ही समस्त दुष्कर्मों की प्रेरक शक्ति है। दुर्बलता ही समस्त स्वार्थों की जड़ है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरे को चोट पहुंचाता है। सब कोई जान जांय कि वे कौन हैं, दिन और रात वे यही जपें—"सोऽहं, सोऽहं", माता के दूध के साथ ही वे इस 'सोऽहं' रूपी शक्ति की भावना को भी पीलें। पहले इसे सुनना होगा, फिर वे इस पर मनन करें तथा तब उस मनन अथवा विचार से ऐसे कार्यों की उत्पत्ति होगी, जैसे कार्य संसार ने कभी देखे ही नहीं हैं।

जो सत्य हो, उसकी साहस पूर्वक घोषणा करो। सभी सत्य सनातन हैं। सत्य ही आत्मा मात्र का स्वभाव है और सत्य की कसौटी यह है—जो कुछ तुम्हें शरीर से, बुद्धि अथवा आत्मा से दुर्बल बनाए, उसे विष की भाँति त्याग दो। जिसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलदायक है, पवित्रता का रूप है, ज्ञान का स्वरूप है। सत्य तो वह है, जो शक्ति दे, जो हृदय के अन्धकार को दूर करदे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे। अब फिर से अपने उपनिषदों का उस बलदायक, आलोकदायक, दिव्य दर्शन शास्त्र का—आश्रय ग्रहण करो। सत्य जितना महान् होता है, उतना ही सहज बोधगम्य भी होता है—स्वयं अपने अस्तित्व की भाँति सहज होता है। जिस प्रकार अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नहीं होती, ठीक वैसा ही। उपनिषदों के सत्य तुम्हारे समक्ष हैं। उन्हें अपनाओ, उनकी उपलब्धि करके उन्हें कार्य रूप में परिणत करो—तभी देखोगे, भारत का उद्धार निश्चित है।

शारीरिक दुर्बलता ही हमारे दुखों के कम-से-कम एक तिहाई भाग का कारण है। हम आलसी हैं। हम मिलकर काम नहीं करते, हम कई बातों को तोते की भांति दुहराते हैं, परन्तु उनके अनुसार काम नहीं

करते। केवल मुँह से कह देना तथा आचरण में न लाना, यह हमारा स्वभाव ही बन गया है। इसका क्या कारण हैं ? शारीरिक दुर्बलता। इस तरह के दुर्बल मस्तिष्क से कोई काम नहीं हो सकता। हमें उसे सशक्त बनाना होगा। सबसे पहले हमारे नवयुवकों को बलवान बनाना चाहिए। धर्म पीछे आ जाएगा। मेरे नवयुवक मित्रो !, तुम बलवान बनो। तुम्हें मेरी यही सलाह है। गीता के अभ्यास की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा तुम स्वर्ग के अधिक समीप पहुंच जाओगे। तुम्हारी कलाई तथा भुजाएँ अधिक मजबूत होने पर तुम गीता को अधिक अच्छी तरह समझोगे। तुम्हारे रक्त में शक्ति की मात्रा बढ़ जाने पर पर तुम श्रीकृष्ण की महान् प्रतिभा तथा अपार शक्ति को अधिक अच्छी तरह से समझने लगोगे। जब तुम अपने पाँवों पर दृढ़ता पूर्वक खड़े हो जाओगे, जब तुम्हें यह प्रतीत होगा कि हम भी मनुष्य हैं उस समय तुम उपनिषदों को और भी अधिक अच्छी तरह समझोगे तथा आत्मा की महिमा को जान सकोगे।

उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति की महिमा बता रहा है। संसार में यही एक साहित्य है, जिसमें तुम्हें 'अभीः' अर्थात् निर्भय शब्द का उपयोग बारम्बार दिखाई देगा। संसार के अन्य किसी भी धर्म शास्त्र में यह विशेषण ईश्वर अथवा मनुष्य को नहीं लगाया गया है। मेरे मन में अत्यन्त प्राचीन काल से उस पाश्चात्य देशीय सम्राट् सिकन्दर का चित्र उदय होता है—वैसे मैं देख रहा हूँ कि वह महाप्रतापी सम्राट् सिन्धु नदी के तट पर खड़ा होकर हमारे ही एक वनवासी, शिला खंड पर बैठे हुए, वृद्ध, नग्न सन्यासी के साथ, वार्तालाप कर रहा है। सम्राट् उनके ज्ञान पर मुग्ध होकर उन्हें यूनान ले चलने के लिए धन तथा मान-प्रतिष्ठा का प्रलोभन दिखा रहा है और वे सन्यासी उसके प्रलोभन की बातों को सुनकर हँसते हुए यूनान जाना अस्वीकार कर रहे हैं। तब सम्राट् अपनी राजसत्ता के मद में ललकार कर कहता है—'यदि तुम नहीं चलोगे, तो मैं तुम्हें जान से मार डालूँगा।' उस समय वे महापुरुष खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं और उत्तर देते हैं

'तुमने आज तक ऐसी मिथ्या बात और कभी नहीं कही। भला मुझे कौन मार सकता है ? मैं तो अजन्मा तथा अविनाशी आत्मा हूँ।' इसी को बल कहते हैं।

हमें दुर्बल बनाने वाले सहस्रों विषय हैं। किस्से-कहानियाँ भी बहुत हैं। भाइयो ! तुम्हारी तथा मेरी नसों में एक ही रक्त का प्रवाह बह रहा है। तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। इसीलिए मैं तुमसे बार-बार यह कहता हूँ कि हमें शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए और उपनिषद शक्ति के विशाल भंडार हैं। उनमें ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे सम्पूर्ण संसार को तेजस्वी कर सकते हैं। उनके द्वारा सम्पूर्ण संसार पुनरुज्जीवित तथा शक्ति एवं वीर्य सम्पन्न हो सकता है। वे तो सभी जातियों को, सभी मतों को, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुखी तथा पददलित मनुष्यों को उच्चस्वर से पुकार कर स्वयं अपने पाँवों पर खड़े होने तथा मुक्त हो जाने के लिए कह रहे हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता शारीरिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता—ये ही उपनिषदों के मूल मंत्र हैं।

परन्तु हम शास्त्रों के द्वारा धार्मिक नहीं बन सकते। भले ही हम संसार की समस्त पुस्तकों को पढ़ डालें, परन्तु सम्भव है कि फिर भी हम धर्म अथवा ईश्वर का एक अक्षर भी नहीं समझें। हम भले ही जीवन भर तर्क-विचार करते रहें, परन्तु स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किए बिना हम सत्य के कण मात्र को भी नहीं समझेंगे। किसी मनुष्य को केवल कुछ पुस्तकें देकर ही अश्व चिकित्सक नहीं बनाया जा सकता। तुम केवल एक नक्शे को दिखाकर मेरे देश को देखने के कौतूहल को पूरा नहीं कर सकते। नक्शा केवल इतना ही कर सकता है कि वह देश के सम्बन्ध में और भी अच्छी तरह से जानने की इच्छा उत्पन्न करदे ! इसके अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नहीं है। मंदिर तथा गिरजाघर, पुस्तक तथा विधियाँ धर्म के केवल प्रारम्भिक अभ्यास कराने की सामग्रियाँ (Kindergarten) हैं—उनसे आध्यात्मिक क्षेत्र का जिज्ञासु अगली सीढ़ियों पर पाँव रखने के लिए बल प्राप्त

करता है। सिद्धान्तों, मतवादों अथवा बौद्धिक विवादों में धर्म नहीं रक्खा है। हम आत्मा हैं, यह जानकर तद्रूप बन जाना ही धर्म है, अपरोक्षानुभूति ही धर्म है।

भले ही हम संसार के सबसे बड़े मनीषी हों, परन्तु तो भी सम्भव है कि हम ईश्वर के तनिक भी समीप नहीं पहुंचें। और देखते भी हैं कि सर्वोच्च बौद्धिक शिक्षा प्राप्त किए हुए लोगों में भी कई पुरुष अधार्मिक हुए हैं। पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयों में से एक बुराई यह भी है कि वहाँ हृदय की परवाह न करते हुए केवल बौद्धिक शिक्षा ही दी जाती है। ऐसी शिक्षा मनुष्य को दसगुना अधिक स्वार्थी बना देती है। जब हृदय तथा मस्तिष्क में द्वन्द्व उपस्थित हो, उस समय हृदय का ही अनुसरण करना चाहिए। हृदय ही हमें उस उच्चतम राज्य में ले जाता है, जहाँ बुद्धि की कभी भी पहुंच नहीं हो सकती। वह बुद्धि के भी परे उस क्षेत्र में जा पहुंचता है, जिसे अन्तःप्रेरणा कहते हैं। अतएव सदैव हृदय का ही संस्कार करो। हृदय में से ईश्वर बोला करता है।

मनुष्य जाति को जिस तीव्रतम प्रेम का अनुभव हुआ है, वह धर्म से ही प्राप्त हुआ है। धार्मिक क्षेत्र के पुरुषों द्वारा ही संसार के अत्यन्त उदार शान्ति संदेश प्राप्त हुए हैं। फिर, संसार में घोरतम निन्दावाक्य भी धर्म में आस्था रखने वालों द्वारा कहे गए हैं। प्रत्येक धर्म अपने सिद्धान्तों को सामने रखता है और इस बात पर बल देता है कि केवल वे सिद्धान्त ही सत्य हैं। कोई-कोई तो अपने धर्ममतों को बल पूर्वक मनवाने के लिए तलवार तक खींच लेते हैं। यह बात नहीं कि ऐसा दुष्टता के कारण किया जाता हो, परन्तु इसका कारण यह है कि मनुष्य के मन में एक तरह की बीमारी होती है, जिसे धर्मान्धता कहते हैं। फिर भी, इन झगड़ों तथा झंझटों, धर्मों तथा मतों की पारस्परिक घृणा एवं द्वेष के रहते हुए भी, समय-समय पर शान्ति तथा समन्वय की घोषणा करने वाली शक्तिशालिनी आवाजें उठती रही हैं।

अब ऐसा अवसर आ गया था, जब ऐसे महापुरुष का जन्म हो, जो यह देखे कि सभी सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से परिचालित हो रहे हैं तथा प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है। जिसका हृदय दरिद्र, दुर्बल तथा पददलितों के लिए पानी-पानी हो जाय और इसके साथ ही जिसकी असाधारण तीव्र बुद्धि न केवल भारतवर्ष के, अपितु भारतोत्तर देशों के भी समस्त विरोधी मतमतान्तरों में सामञ्जस्य स्थापित करे और इस तरह एक अद्भुत समन्वय तथा सार्वभौम धर्म का आविष्कार हो। ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ और मुझे उनके श्रीचरणों के समीप वर्षों तक बैठकर शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। मैंने अपने गुरुदेव से इस अद्भुत सत्य को सीखा है कि संसार के भिन्न-भिन्न धर्म एक दूसरे से असंगत तथा विरोधी नहीं हैं। वे सब एक ही सनातम धर्म के भिन्न-भिन्न रूप हैं। श्रीरामकृष्ण ने कभी भी किसी के भी विरोध में कोई बात नहीं कही। उनमें ऐसी अपूर्व सहिष्णुता थी कि प्रत्येक धर्म वाला यही समझता था कि वे उसी के धर्म को मानने वाले हैं। उनका सबके ऊपर प्रेम था उनके लिए सभी धर्म सच्चे थे। उनका सम्पूर्ण जीवन मतवाद एवं साम्प्रदायिकता की संकुचित सीमाओं को तोड़ने में ही व्यतीत हुआ।

अतः अपना मूल मंत्र 'स्वीकार' होना चाहिए, न कि 'बहिष्कार' केवल परधर्म सहिष्णुता ही नहीं—क्योंकि वह अनेक बार नास्तिकता का नामान्तर मात्र ही होती है। अतः मैं उस पर विश्वास नही करता। मैं 'स्वीकार' में विश्वास करता हूँ। 'परधर्म सहिष्णु' करने पर मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा हैं और मैं उसे कृपा पूर्वक तरह दे रहा हूँ। तुम जैसा अथवा मुझ जैसा कोई भी मनुष्य किसी को कृपा पूर्वक तरह दे सकता है, यह समझना क्या ईश्वर के प्रति दोषारोपण करना नहीं है? मैं अतीत के सभी धर्मों को स्वीकार करता हूँ तथा उनकी पूजा करता हूँ। मैं ईश्वर की पूजा सभी धर्मों के अनुसार करता हूँ, चाहे वे किसी भी रूप में उसकी पूजा क्यों न करते हों। मैं मुसलमानों की मसजिद में चला जाऊँगा, मैं ईसाइयों के साथ गिरजा

घर में जाकर क्रॉस के समक्ष घुटने टेकूँगा, मैं बौद्ध विहार में प्रवेश करके बुद्ध तथा उनके संघ की शरण लूँगा एवं वन में जाकर हिन्दुओं के समीप बैठकर, ध्यान में निमग्न होकर उनकी तरह ही सबके हृदय को उद्भाषित करने वाली ज्योति के दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा।

मैं केवल इतना ही नहीं करूँगा, अपितु मैं भविष्य में आने वाले सभी धर्मों के लिए भी अपने हृदय को खुला रखूँगा। क्या ईश्वर का ग्रन्थ समाप्त हो गया? अथवा वह अभी भी क्रमशः प्रकाशित हो रहा है? संसार की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ एक अद्भुत ग्रन्थ हैं। बाइबिल, वेद, कुरान तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ-समूह जैसे उसी ग्रन्थ के अलग-अलग पन्ने हैं और अभी भी उसके असंख्य पृष्ठ प्रकाशित हैं। अतीत में जो कुछ भी हुआ है, हम उस सबको ग्रहण करेंगे, वर्त्तमान की ज्ञान ज्योति का उपभोग करेंगे तथा भविष्य में आने वाली बातों को ग्रहण करने के लिए भी अपने हृदय के सभी द्वारों को खुला रखेंगे। अतीत के ऋषियों को प्रणाम, वर्त्तमान के महापुरुषों को प्रणाम तथा भविष्य में जो-जो आएँगे, उन सबको भी प्रणाम!

संस्कृति

पर्वतराज हिमालय के चिर-शुभ्र-हिमाच्छादित शिखरों से तीव्र वेग से फूटकर बहने वाले कितने झरने एवं गरजते हुए जलप्रपात, कितने बर्फीले नाले तथा निरन्तर बहने वाली नदियाँ सब एक साथ मिलकर विशाल सुरसरिता गंगाजी के रूप में प्रवाहित होती हुई समुद्र की ओर भयानक वेग से दौड़ रही हैं। इसी तरह असंख्य सन्तों के हृदय से एवं भिन्न-भिन्न भूभागों के प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मस्तिष्क से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भावों विचारों और शक्ति प्रवाहों ने उन्नतर मानवी कार्यों के प्रदर्शन क्षेत्र, कर्मभूमि भारतवर्ष को पहले से ही व्यक्त कर रक्खा है।

वास्तव में भारतवर्ष भिन्न-भिन्न मानव-वंशों का जैसे एक संग्राहलय ही है। नर तथा वानर में सम्बन्ध स्थापित कराने वाला जो एक अस्थि-कंकाल हाल ही में सुमात्रा में पाया गया है, वह खोज करने पर सम्भवतः यहाँ पर भी प्राप्त हो सकता है। यहाँ प्रागैतिहासिक काल के पाषाण-निर्मित द्वार-प्रकारों (Dolmens) का अभाव नहीं है। चकमक हथियार तो प्रायः कहीं भी खोद

कर प्राप्त किए जा सकते हैं। फिर ऐतिहासिक काल की नैग्रिटो कोलेरियन (Negrito-Kcearian) द्रविड़ एवं आर्य मानव-वंश भी यहाँ पाए जाते हैं। इसके साथ ही समय-समय पर प्रायः सभी जाति और बहुत से आज तक भी अज्ञात मानव-वंशों का किसी अंश में सम्मिश्रण होता रहता है। उफनती, उबलती, संघर्षमयी एवं निरन्तर स्वरूप बदलती हुई और ऊपरी सतह तक उठकर, फैलकर, छोटी-छोटी लहरों को निगलकर फिर शान्त होती हुई इन भिन्न-भिन्न मानव-वंश रूपी तरंगों से बना हुआ मानवता का महासमुद्र—यही भारतवर्ष का इतिहास है।

इन भिन्न-भिन्न मानव-वंशों के संयोग से हमारे वर्त्तमान समाजों रीतियों तथा रूढ़ियों का विकास होना आरम्भ हुआ। नए विचार उत्पन्न होते गए तथा नए विज्ञानों का बीजारोपण होने लगा। एक श्रेणी के मनुष्य हस्तकौशल अथवा बौद्धिक श्रम द्वारा उपयोग तथा आराम की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनाने लगे और दूसरे वर्ग के मनुष्यों ने उनके संरक्षण का भार अपने ऊपर ले लिया तथा वे सब इन वस्तुओं का विनिमय करने लगे। फिर ऐसा हुआ कि जो लोग अत्यन्त चतुर थे, उन्होंने इन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने का कार्य अपने हाथ में लिया तथा वे इस कार्य के पारिश्रमिक-शुल्क के बहाने लाभ का अधिकांश स्वयं ही लेने लगे। एक ने पृथ्वी को जोतकर खेती की, दूसरे ने उसकी फसल को लूट-पाट से बचाने के लिए उसकी रक्षा की, तीसरे ने उस पैदावार को अन्य स्थान पर पहुंचाया तथा चौथे ने उसे खरीद लिया। खेती करने वाले को प्रायः कुछ नहीं मिला, रक्षा करने वाला जितना ले सका, उतना बलपूर्वक ले गया, बाजार में लाने वाले व्यापारी ने उसमें से मुख्य भाग को स्वयं ले लिया तथा खरीददार को उन वस्तुओं के लिए बहुत अधिक मूल्य देना पड़ा, जिसके भार के कारण उसे कष्ट होता रहा। रक्षा करने वाला राजा कहलाने लगा, वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाला व्यापारी बना, इन दोनों ने स्वयं उत्पन्न तो कुछ भी नहीं किया, परन्तु फिर भी

उन्होंने कुल वस्तुओं के उत्तम अंश को छीन लिया। किसान के परि-श्रम के फल का अत्यधिक लाभ उठाकर ये स्वयं तो मोटे-ताजी बन गए तथा बेचारा किसान, जिसने इन सब वस्तुओं को उत्पन्न किया, भूखों मरने लगा और ईश्वर से सहायता माँगने लगा।

अब, काल-क्रम से समस्याएँ जटिल होती गईं तथा गाँठ पर गांठ बढ़ती गईं। इसकी उलझन तथा गुत्थियों के जाल से हमारे वर्त्त-मान जटिल समाज का विकास हुआ है। अतीत-आचार के चिह्न आज भी बने हुए हैं और पूर्ण रूप से मिट नहीं रहे हैं।

एशिया की समस्त सभ्यता का विकास पहले बड़ी नदियों के समीप के मैदानों तथा उपजाऊ भूमियों में गंगा, यांगटीसीक्यांग तथा यूफ्रेटिज नदियों के कछारों में हुआ। इन सभ्यताओं का मूल आधार कृषि-कर्म ही है तथा इन सब में दैवी प्रकृति की प्रधानता है। इसके विपरीत अधिकांश यूरोपीय सभ्यता का उद्‌भव पर्वत-प्रदेशों अथवा समुद्र-तटों में हुआ है—जल तथा स्थल में लूट-मार करना ही सभ्यता का आधार है, उसमें आसुरी प्रकृति की प्रधानता है।

यूरोप की सभ्यता की तुलना उस वस्त्र-खंड से की जा सकती है, जो इन उपादानों से बना है—उसे बुनने का करघा समुद्र तट पर का फैला हुआ समशीतोष्ण पहाड़ी प्रदेश है, उसका कपास भिन्न-भिन्न जातियों की वर्णसंकरता से उत्पन्न प्रबल युद्धप्रिय जाति है, उसका ताना अपने शरीर तथा अपने धर्म की रक्षा के हेतु लड़ा जाना युद्ध है, और उसका बाना व्यापार है। उस सभ्यता का साधन तलवार है। उसके सहायक साहस तथा शक्ति हैं, और उसका उद्देश्य ऐहिक एवं पारलौकिक सुखोपभोग है।

आर्य सभ्यता रूपी वस्त्र का करघा विशाल, उष्ण, समधरातल प्रदेश है, जिसमें स्थान-स्थान पर चौड़ी, जहाज चलने योग्य नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। इस वस्त्र का कपास है—अतिसभ्य, अर्धसभ्य तथा जंगली जातियाँ, जिनमें अधिकांश आर्य हैं। उसका ताना, वर्णा-

श्रम धर्म है और उसका बाना प्रकृतिगत कलह तथा प्रतियोगिता पर विजय-प्राप्ति है।

यूरोप निवासियों का उद्देश्य है—अपने जीने के लिए अन्य सब का अन्त कर देना तथा आर्यों का उद्देश्य है—सभी को ऊपर उठाकर अपने समकक्ष बनाना। इतना ही नहीं, अपितु अपने से भी ऊंचे स्तर पर पहुंचाना। यूरोप की सभ्यता का साधन तलवार है तथा आर्य-सभ्यता का साधन भिन्न-भिन्न वर्णविभाग है। भिन्न-भिन्न वर्णों में विभाजित करने का यह तरीका सभ्यता की सीढ़ी है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी विद्वता तथा संस्कृति के अनुसार उच्च से उच्चतर बन सकता है। यूरोप में सब जगह शक्तिशाली की विजय तथा दुर्बल की मृत्यु है, परन्तु भारतवर्ष में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बल की रक्षा के लिए बना हुआ है।

× × ×

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि समाज के भिन्न-भिन्न वर्णों के नाम हैं। जिसमें अपने भीतर, ध्येय तक पहुंच जाने पर भी, निरन्तर घट-बढ़ होती रहती है और उसके बाद, उनके अपने दायरे के भीतर निम्नतर जातियों तथा विदेशियों का बलात् प्रवेश हो जाने के कारण उनका सम्पूर्ण प्रयत्न, अन्य वर्ण तथा जातियों के साथ विवाह निषिद्ध करके, अपने वर्ण को सुदृढ़ तथा विशुद्ध बनाए रखने की ओर होता है। जिस जाति में तलवार की शक्ति होती है, वह क्षत्रिय बन जाती है, विद्वता की शक्ति से ब्राह्मण तथा धन की शक्ति से वैश्य जाति बन जाती है। जो समुदाय अपने इच्छित उद्देश्य को पहुंच गए हैं, वे वास्तव में अपनी ही जाति में अन्तर्विभाग करके नवागत लोगों से स्वयं को अलग रखने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु सत्य तो यह है कि अन्त में सब एक हो जाते हैं। हमारी आँखों के सामने भारतवर्ष में सब जगह ऐसा होरहा है। हमारी अपनी भिन्न-भिन्न जातियों के होते हुए भी, और एक जाति के अन्तर्गत, उपजातियों में ही विवाह करने की हमारी वर्त्तमान प्रथा के रहते हुए भी (यद्यपि यह प्रथा सब जगह

नहीं है) हमारा यह मानव-वंश हर प्रकार से मिश्रित वंश ही कहा जा जकता है।

वर्ण-व्यवस्था सदैव अत्यन्त लचीली रही है—इतनी अधिक लचीली कि कई बार तो सभ्यता की श्रेणी में अत्यन्त निम्न जाति को भी उन्नत होने का निश्चित अवसर प्राप्त हुआ है। इससे यह हुआ कि कम-से-कम सिद्धान्त की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत का पथ प्रदर्शन धन अथवा तलवार के द्वारा नहीं, अपितु बुद्धि के द्वारा हुआ है जो आध्यात्मिकता से परिमार्जित एवं नियंत्रित थी।

आर्यों में सर्वोच्च ब्राह्मण जाति ही भारतवर्ष की अग्रगण्य जाति है। यद्यपि ऊपर से देखने में आर्यों की वर्ण-व्यस्था अन्य देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं से भिन्न दिखाई पड़ती है, फिर भी सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह पता चलेगा कि इन दोनों में केवल निम्नलिखित दो बातों के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष अन्तर नहीं है।

पहला तो यह कि अन्य प्रत्येक देश में सर्वोच्च सम्मान तलवार के उपासक क्षत्रिय को प्राप्त होता है, परन्तु भारतवर्ष में सबसे अधिक सम्मान शान्ति के उपासक शर्मन—ईश्वर उपासक ब्राह्मण को प्राप्त होता है। और दूसरी बात है—इकाई (Unit) का भेद। अन्य देशों में जातीय नियम एक व्यक्ति—पुरुष या स्त्री—को ही पर्याप्त इकाई मान लेता है, किसी एक व्यक्ति का धन, शक्ति, बुद्धि अथवा सौन्दर्य ही उसे अपने जन्मगत सामाजिक स्तर को छोड़कर, किसी भी उच्चतर स्तर पर उठाने के लिए पर्याप्त होता है, परन्तु यहाँ भारतवर्ष में एक जाति के सभी व्यक्तियों को मिलाकर इकाई मानी जाती है। यहाँ भी हर किसी को नीच जाति से उच्चतर अथवा उच्चतम जाति में उन्नत होने का हर प्रकार से अवसर प्राप्त है, परन्तु यहाँ इस परोपकारिता (Altruism) के सिद्धान्त की जन्मभूमि में एक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने साथ अपनी सम्पूर्ण जाति को उन्नत करे। भारतवर्ष में यदि कोई उच्चतर जाति में उठना चाहता है, तो उसे पहले अपनी सम्पूर्ण जाति

को उन्नत करना होगा, तत्पश्चात्, उसकी उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाला कुछ भी नहीं रहता।

तब, भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था का आधार क्या है? वह है जाति-नियम। मैं जाति के लिए जन्म लेता हूँ तथा जाति के लिए ही जीवित रहता हूँ। जाति में जन्म लेने पर जाति के नियमों के अनुसार ही समस्त जीवन व्यतीत करना होगा। अथवा आधुनिक भाषा में हम इस तरह कह सकते हैं कि पाश्चात्य मनुष्य जैसे व्यक्तिगत रूप में जन्म लेता है और हिन्दू सामाजिक रूप में पैदा होता है। अतः मैं अपने विवाह के सम्बन्ध में खुद कुछ नहीं कह सकता और न अपने विवाह के बारे में मेरी बहिन ही कुछ बोल सकती है। उस सबका निर्णय जाति ही करती है। कभी-कभी तो हमारा विवाह बचपन में ही हो जाता है। ऐसा क्यों? क्योंकि जाति का कहना है कि जब इनका विवाह, इनकी सम्मति लिए बिना ही होना है, तो यह विवाह छोटी आयु में हो जाना ही अधिक अच्छा रहेगा। तुम कहोगे—"ओह! सुख-भोग का बहुत-सा अवसर वे खो देते हैं, पुरुष को स्त्री से प्रेम करते समय तथा स्त्री को पुरुष से प्रेम करते समय, जिन अपूर्व भावों का उदय होता है, उन्हें वे खो डालते है।" परन्तु हिन्दू कहता है—"हम तो सामाजिक हैं। एक पुरुष अथवा एक स्त्री के आनन्द के लिए हम समाज के सहस्त्रों व्यक्तियों पर दुःख का भार नहीं डालना चाहते।"

हमारी जातियाँ तथा हमारी संस्थाएँ हमें एक राष्ट्र के रूप में सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक रही हैं। इस आत्मरक्षा की आवश्यकता जब नहीं रहेगी, तब ये स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जाएँगी, परन्तु अब मैं जैसे-जैसे बड़ा होता जाता हूँ, वैसे-वैसे भारतवर्ष की इन प्राचीन संस्थाओं को अधिक अच्छी तरह से समझता चला जा रहा हूँ। एक समय था, तब मैं इनमें से बहुत से विषयों को व्यर्थ तथा निरुपयोगी समझता था, परन्तु जैसे-जैसे मैं बड़ा हो रहा हूँ, वैसे

ही मैं उन्हें दूषित बताने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि उनमें से प्रत्येक संस्कार अनेक शताब्दियों के अनुभव का मूर्तिमान रूप है।

केवल कल का छोकरा, जो परसों निश्चय ही मरने वाला है, मुझसे आकर कहता है कि तुम अपने समस्त कार्यक्रम को बदल डालो, और यदि मैं उस बालक की बात को मानकर अपनी सभी परिस्थितियों को उसके विचारों के अनुसार बदल डालूँ तो मैं ही मूर्ख बनूँगा कोई अन्य नहीं। भिन्न-भिन्न देशों से जो सम्मतियाँ हमें प्राप्त होती हैं, उनमें से अधिकांश इसी तरह की हैं। इन बुद्धिमानों से कह दो—"हम तुम्हारी बात को तब सुनेंगे, जब तुम स्वयं अपने यहाँ सुदृढ़ समाज का निर्माण कर लोगे। तुम एक विचार पर दो दिन तक भी दृढ़ नहीं रह पाते, तुम झगड़ा कर बैठते हो और असफल हो जाते हो। तुम छोटे-छोटे मौसमी कीड़ों की भाँति पैदा होकर उन्हीं की तरह पांच मिनट में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हो; तुम बुलबुले के समान ऊपर आते हो और उसी की भाँति फूट जाते हो। पहले हमारी तरह स्थायी समाज तो बनालो। पहले तुम अपने नियम तथा संस्थाएँ ऐसी बनालो, जिनकी शक्ति शताब्दियों तक क्षीण न हो। तब इस विषय में तुम्हारे साथ बात करने का समय आएगा, अन्यथा तबतक तो तुम निरे बच्चे ही हो।"

वे कहते हैं, जाति नहीं होनी चाहिए। जो लोग जाति में रहते हैं, वे भी कहते हैं कि यह पूर्णता प्राप्त संस्था नहीं है. परन्तु वे कहते हैं कि जब तुम हमारे लिए कोई दूसरी अधिक उपयोगी संस्था दिला दोगे, तब हम इसे त्याग देंगे। वे कहते है, हमें इसके बदले में क्या दोगे ? कहीं कोई ऐसा भी देश है, जहाँ जाति न हो ? तुम्हारे देश (संयुक्तराज्य अमेरिका) में तुम लोग जाति-निर्माण करने का निरन्तर प्रयत्न कर रहे हो। जैसे ही कोई व्यक्ति थैली भर कर डालर प्राप्त कर लेता है, वह कहने लगता है "अब तो मैं 'चारसौ'(करोड़पतियों) में से एक हो गया।" सचाई यह है कि हम भारतवासी ही

अकेले स्थायी जाति को बनाने में सफल हुए हैं। अन्य राष्ट्र तो प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु वे सफल नहीं हो पा रहे हैं। हममें पर्याप्त कुसंस्कार तथा दोष हैं। क्या पाश्चात्यों के कुसंस्कारों एवं दोषों को ग्रहण करने से स्थिति सुधर जाएगी? जाति के कारण ही तीस करोड़ मनुष्यों को अब तक रोटी का टुकड़ा मिल रहा है। यह माना कि यह एक अपूर्ण संस्था है, परन्तु यदि जाति न रहती, तो तुम्हें कोई भी संस्कृत की पुस्तक अध्ययन करने के लिए नहीं मिलती। इस जाति ने ही ऐसी दीवारें खड़ी करदीं, जिनके चारों ओर हर प्रकार की चढ़ाइयों की लहरें आईं, परन्तु उन्हें तोड़ नहीं सकीं। वह आवश्यकता आज (पच्चीस मार्च १८९६) तक दूर नहीं हुई है, इसीलिए जाति बची हुई है।

× × × ×

उच्च श्रेणी वालों को नीचे खींचने से समस्या का हल नहीं होगा, अपितु नीचे की श्रेणी वालों को ऊपर उठाने से ही वह हल होगी। और हम अपने ग्रन्थों में इसी कार्य प्रणाली को पाते हैं। भले ही तुम उन लोगों से, जिनका शास्त्र-ज्ञान तथा पूर्वजों की शक्ति-सम्पन्न कार्य प्रणाली को समझने की योग्यता शून्य मात्र है, कुछ भी सुनो। यह कार्य प्रणाली कौनसी है? आदर्श के एक छोर पर तो ब्राह्मण है और दूसरे छोर पर चांडाल है। तथा सम्पूर्ण कार्य यही है कि चांडाल को ब्राह्मण तक ऊँचा उठा दिया जाय। धीरे-धीरे तुम चांडालों को अधिक अधिकार दिए जाते हुए पाओगे। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनमें ये कठोर शब्द पढ़ने को मिलते हैं–"यदि शूद्र वेद सुनता है, तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा भरदो, और यदि उसने एकाधि पंक्ति याद करली है—तो उसकी जीभ काटकर अलग करदो।" आगे चलकर, इस स्वर में कुछ नरमी आगई है, उदाहरण के लिए–"शूद्रों को मत सताओ, परन्तु उन्हें उच्च ज्ञान मत सिखाओ।" फिर क्रमशः अन्य स्मृतियों—विशेषकर जिन स्मृतियों का आज पूरा प्रभाव है, उनमें

हम यह पाते हैं—"यदि शूद्र लोग ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों की नकल करें, तो अच्छा ही है, उन्हें उसमें उत्साह प्रदान करो।" बस, इसी तरह चलता आया है। स्पष्ट सत्यों की ओर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि सभी जातियों को धीरे-धीरे ऊपर उठाना है। यहाँ हजारों जातियाँ हैं तथा कुछ जातियाँ तो ब्राह्मण वर्ग में भी प्रवेश पा गई हैं। कारण, किसी भी जाति वालों को "हम ब्राह्मण हैं", ऐसी घोषणा करने से कौन रोक सकता है? इसी तरह अपनी सम्पूर्ण कठोरता के साथ जाति का निर्माण होता रहता है। मान लीजिए, यहां ऐसी अनेक जातियां हैं, जिनमें प्रत्येक में दस हजार मनुष्य हैं, यदि ये लोग एकमत होकर कहें कि हम स्वयं को ब्राह्मण कहेंगे तो उन्हें रोकने वाला कौन है? मैंने ऐसी बात अपने जीवन में भी देखी है। कुछ जातियाँ सबल हो जाती हैं तथा जैसे ही वे एकमत हो गईं कि उन्हें 'नहीं' कौन कह सकता है? क्योंकि जो कुछ भी रहा हो, प्रत्येक जाति एक-दूसरे से बिलकुल अलग रहा करती थी, यहाँ तक कि एक जाति दूसरी जाति के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती थी और एक जाति के भिन्न-भिन्न विभाग भी दूसरे विभागों में हाथ नहीं डालते। शंकराचार्य आदि शक्तिशाली युग प्रवर्तकगण महान् जाति-निर्माता थे।

मैं सभी जातियों को समतल कर डालने के लिए नहीं कहता। जाति तो बहुत अच्छी वस्तु है। हम जाति के क्रम का ही अनुकरण करना चाहते हैं। यथार्थ में जाति क्या है, इस बात को लाखों में से कोई एक भी नहीं समझता। संसार में बिना जाति का कोई देश नहीं है। भारतवर्ष में, हम जाति से चल कर ऐसी अवस्था पर पहुंचते हैं, जहां कोई जाति ही नहीं है। इसी सिद्धान्त पर जाति की सम्पूर्ण रचना हुई है। भारतवर्ष की यही योजना है कि प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण बनाया जाय, क्योंकि ब्राह्मण ही मानवता का आदर्श है। यदि तुम भारतवर्ष का इतिहास पढ़ोगे तो यही देखोगे कि सदैव ही नीची जातियों को ऊपर उठाने के लिए प्रयत्न होते रहे हैं, ऐसी कई

जातियाँ हैं, जो ऊपर उठ चुकी हैं और भी बहुत-सी जातियाँ ऊपर उठेंगी। जबतक वे सभी ब्राह्मण नहीं बन जातीं, यही योजना है। किसी को भी नीचे गिराए बिना उनको ऊपर उठाना है। हमारे पूर्वजों का आदर्श पुरुष ब्राह्मण था। यूरोप में जो कारडैनल (उच्च धर्माधिकारी) हैं, वे अपने पूर्वजों की कुलीनता सिद्ध करने के हेतु कठोर प्रयत्न कर रहे हैं तथा सैकड़ों पौंड खर्च कर रहे हैं और उन्हें तबतक संतोष नहीं होता, जबतक वे किसी ऐसे भीषण अत्याचारी के वंशज होने का सम्बन्ध न जोड़ लें, जो किसी पहाड़ी पर रहा हो और वहाँ राहगीरों को ताकता तथा अवसर पातेही उनको छापा मार-कर लूट-मार कर लेता है। भारतवर्ष में, तुम्हारी जाति, तभी सबसे ऊंची गिनी जाएगी, जब तुम किसी ऋषि के वंशज होने का सम्बन्ध जोड़ सको अन्यथा नहीं। हमारा आदर्श आध्यात्मिक संस्कृति सम्पन्न वैरागी ब्राह्मण है। ब्राह्मण आदर्श से मेरा क्या तात्पर्य है ? मेरा तात्पर्य है आदर्श ब्राह्मणत्व, जिसमें संसारी भाव का अभाव तथा यथार्थ ज्ञान प्रचुर मात्रा में हो। यही हिन्दू जाति का आदर्श है।

ब्राह्मण जाति तथा ब्राह्मणत्व के गुण तो अलग बातें हैं। भारतवर्ष में मनुष्य अपनी जाति के कारण ब्राह्मण माना जाता है, परन्तु पाश्चात्य देशों में, वह अपने गुणों के कारण ही ब्राह्मण माना जा सकेगा। जिस प्रकार सत्व, रज तथा तम तीन गुण हैं, उसी तरह ऐसे भी गुण हैं, जिनसे मनुष्य का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होना जाना जाता है। इस देश में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के गुणों का लोप होता जारहा है। परन्तु पश्चिम वाले अब क्षत्रियत्व तक जा पहुंचे हैं, जहाँ से अगला चरण ब्राह्मणत्व का है और वहाँ बहुतों ने स्वयं को उसके योग्य भी बना लिया है।

सात्विकभाव के अधिक मात्रा में होने पर मनुष्य निष्क्रिय होकर सदैव गम्भीर ध्यानावस्था में रहता है। रजोगुण की अधिकता होने पर वह अच्छे तथा बुरे दोनों कार्य करता है एवं तमोगुण की प्रवृत्ति में वह कर्म रहित एवं आलसी बन जाता है। सतोगुण की प्रवृत्ति में

मनुष्य निष्कर्म रहकर अवश्य ही शान्त रहता है, परन्तु वह निष्कर्म होने की अवस्था महान् शक्तियों के केन्द्रीभूत होने का परिणाम है। वह शान्ति अत्यन्त प्रवल शक्ति की जननी है। वह सत्य प्रधान पुरुष ब्राह्मण है, वह सवका पूज्य है। "मेरी पूजा करो" कहने के लिए क्या उसे द्वार-द्वार पर भटकना पड़ता है? और देखो, स्मरण रक्खो कि जो अक्षर-अक्षर को दबाकर नाक से वोलते हैं, जिनकी आवाज आठ दिन का लंघन करने वाले की भाँति क्षीण है,जो गीले चिथड़े की भाँति पड़े रहते हैं तथा लात मारने पर भी कोई आवाज नहीं उठाते है, ऐसे कायर स्त्री जैसे पुरुषों में जो लक्षण पाए जाते हैं, उन्हें नीचतम तमोगुण के लक्षण जानना चाहिए, ये सव मृत्यु के सड़ेपन तथा दुर्गन्धि के चिन्ह हैं, सतोगुण के नहीं। गत हजारों वर्षों से सम्पूर्ण देश समस्त वायु मंडल को ईश्वर के नाम से भरे दे रहा है तथा ईश्वर की प्रार्थना कर रहा है, परन्तु भगवान् उनकी ओर कान तक नहीं दे रहे हैं, और सुने भी क्यों? जव मनुष्य ही मूर्ख की पुकार को नहीं सुनता, तव क्या तुम समझते हो कि भगवान सुनलेंगे? कैसी विडम्वना है। यूरोप वालों के ईश्वर ईसामसीह सिखाते हैं "किसी को शत्रु मत वनाओ, तुम्हें जो कोसे, उसे तुम आशीर्वाद दो, सव काम वन्द करदो तथा परलोक के लिए तैयार रहो।" और हमारे ईश्वर गीता में कहते हैं "सदैव अत्यन्त उत्साह पूर्वक कर्म करो, अपने शत्रुओं का विनाश करो तथा संसार का सुख भोगो।" परन्तु अन्त में हुआ क्या? ईसामसीह अथवा कृष्ण ने जो कुछ कहा, उसका विलकुल उलटा ही हुआ। गीता के उपदेशों का पालन कौन कर रहा है?—यूरोपवासी। तथा इसीमसीह की इच्छा के अनुसार कौन चल रहा है? श्रीकृष्ण के वंशज।

अव तुम समझे, पश्चिम में ब्राह्मण हैं अथवा नहीं हैं। तुम्हारे भारतवर्ष में भी ब्राह्मण हैं, परन्तु उन्होंने अपने भयानक अत्याचार के कारण देश को नष्टप्राय कर दिया है। फलस्वरूप उनमें जो कुछ स्वाभाविक गुण थे, क्रमशः वे भी नष्ट होते जा रहे हैं।

मेरे सभी शिष्य ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण पुत्र सदैव ब्राह्मण ही होता है, ऐसा नहीं है। यद्यपि हर प्रकार से सम्भावना तो यही रहती है कि वह ब्राह्मण ही हो, परन्तु फिर हो सकता है कि वैसा न भी हो। क्या तुमने नहीं सुना कि वागबाजार के अघोर चक्रवर्ती का भतीजा मेहतर हो गया और वह अपनी नयी जाति के सभी निकृष्ट कर्मों को करता था? क्या वह ब्राह्मण का लड़का नहीं था?

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में सत्व, रज, तथा तम—इनमें से एक अथवा दूसरा कम अथवा अधिक मात्रा में—होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र वनाने वाले गुण भी कम अथवा अधिक मात्रा में प्रत्येक मनुष्य में स्वभावतः ही रहते हैं परन्तु कभी-कभी इनमें से किसी एक अथवा दूसरे गुण की भिन्न-भिन्न परिमाण में प्रधानता हुआ करती है और उसी के अनुसार वह गुण बाहर दिखाई देता है। उदाहरण के लिए किसी मनुष्य को भिन्न-भिन्न कार्य करते समय देखो। जव वह वेतन के लिए दूसरे की सेवा करने में लगता है, तव वह शूद्र है। जब वह अपने ही लाभ के लिए कोई व्यापार कर रहा है, तव वह वैश्य है। जव वह अत्याचार के लिए लड़ता है, तव उसमें क्षत्रिय के गुण प्रगट होते हैं और जब वह परमात्मा का ध्यान करता है अथवा अपना समय ईश्वर सम्बन्धी वार्तालाप में विताता है, उस समय वह ब्राह्मण है। अतः यह स्पष्ट है कि एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तित हो जाना विल्कुल सम्भव है, अन्यथा विश्वामित्र ब्राह्मण तथा परशुराम क्षत्रिय कैसे हुए?

जाति का आधार गुण है। इस बात का स्पष्ट प्रमाण महाभारत के भीष्म पर्व में एवं अजगर तथा उमा महेश्वर के आख्यानों में पाया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशिष्ट शक्ति के प्रकट होने का केन्द्र है। हमारे पूर्व कर्मों के फल स्वरूप ही यह शक्ति संचित हुई है और हममें से प्रत्येक इसी शक्ति को अपने साथ लेकर जन्म लेता है।

इसी महान् सत्य को भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में समझाने का यत्न किया है तथा इस महान् सत्य के आधार पर हिन्दूधर्म को

वर्णाश्रम प्रथा तथा स्वधर्म के सिद्धान्त आदि की स्थापना हुई है।

एक वैदिक धर्म ही ऐसा हैं, जो चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग तथा साधनों पर विचार करके नियमों को निर्धारित करता है। सही तथा सच्चा मार्ग तो वेदों का जातिधर्म एवं स्वधर्म ही है। जातिधर्म का अर्थ है—भिन्न-भिन्न जाति के लिए निर्धारित धर्म तथा स्वधर्म का तात्पर्य है—मनुष्य का अपना धर्म अथवा उसकी योग्यता एवं अवस्था के अनुसार निर्धारित उसके कर्तव्य। ये ही वैदिक धर्म तथा वैदिक समाज के आधार हैं। यह जाति धर्म,यह स्वधर्म प्रत्येक देश में सभी समाजों के कल्याणका मार्ग है,मोक्ष प्राप्ति का सोपान स्वरूप है। इस जातिधर्म की, इस स्वधर्म की अवनति के साथ हमारे देश का भी अधःपतन हुआ है। परन्तु जातिधर्म अथवा स्वधर्म का जैसा अर्थ आजकल के उच्च जाति वाले लगाते हैं, वह तो एक नया दोष है, जिससे बचना चाहिए। वे समझते में कि वे जातिधर्म की सब बातों को जानते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि वे उसका कुछ भी नहीं जानते। वे अपने गांव की रूढ़ि को ही वेदोक्ति सनातन धर्म मानकर,सब अधिकारों को स्वयं ही अपना कर,विनाशकी ओर जा रहे हैं। मैं यहाँ पर गुणगत जाति की बात नहीं करता, अपितु जन्मगत जाति-भेद की बात कह रहा हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि गुणगत जाति ही मुख्य है। परन्तु दुःख यो यह है कि दो-तीन पीढ़ियों में ही जाति का निर्णय गुणों के अनुसार न होकर जन्म के अनुसार होने लगता है। इस तरह हमारे राष्ट्रीय जीवन के मर्मस्थल को धक्का लग चुका है, अन्यथा हम इस हीन दशा को क्यों पहुंचते? गीता में लिखा है—'तब तो मैं जाति के वर्णसंकर का कारण बन जाऊँगा तथा इन मनुष्यों का नाश करूँगा।' यह भयानक वर्णसंकर किस तरह आया, जिसमें सभी जातियों का विचित्र समिश्रण है तथा गुणों के कारण होने वाले भेद का लोप हो गया है? हमारे पूर्वजों का गौरवर्ण काला किस तरह हो गया? सत्व का स्थान इस प्रवृद्ध तम ने, जिसमें रजोगुण के जैसे कुछ छींटे से पड़े हुए हैं, किस तरह ले

लिया ? यह एक लम्बी कहानी है और इसका उत्तर मैं किसी भविष्य अवसर पर दूँगा। अभी तो यह समझने का प्रयत्न करो यदि जाति धर्म की यथार्थ रूप से ठीक-ठीक रक्षा की जाय, तो राष्ट्र का पतन कभी नहीं हो सकता। यदि यह सत्य है, तो हमारे अधःपतन का क्या कारण है ? हमारे पतन से यह निश्चित है कि जातिधर्म के आधार में विकृति करदी गई है। अस्तु तुम जिसे जातिधर्म कहते हो, यह आज के प्रचलित जातिधर्म से एकदम विपरीत है। पहले अपने शास्त्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन करो, उस समय तुम सरलता पूर्वक यह समझ सकोगे कि शास्त्रों ने जिस प्रकार की परिभाषा की है, वह जातिधर्म देश के प्रायः प्रत्येक भाग से विलुप्त हो गया है। अब सच्चे जातिधर्म को वापिस लौटा लाने की चेष्टा करो, तभी वह देश के लिए सच्चा वरदान स्वरूप होगा।

भारत का अतीत

आधुनिक भारतवासी प्राचीन आर्य कुल के गौरव नहीं हैं, परन्तु राख से ढँकी हुई अग्नि की भाँति इन आधुनिक भारतवासियों में छिपी हुई पैतृक शक्ति अभी भी विद्यमान है। सर्वशक्तिमान प्रभु की कृपा से यथा-समय उसका फिर स्फुरण होगा। प्रस्फुरित होकर क्या होगा ? क्या मनु का नीतिशास्त्र फिर उसी प्रभाव से प्रतिष्ठित हो जाएगा अथवा देशभेद के अनुसार भक्ष्या-भक्ष्य का विचार ही आधुनिक काल की भाँति सर्वतो-मुखी प्रभुत्व सम्पन्न रहेगा ? क्या जातिभेद बना रहेगा और क्या वह गुणानुसार होगा अथवा सदैव के लिए जन्म के अनुसार ही रहेगा ? फिर, उस जातिभेद के अनुसार भोजन के सम्बन्ध में छूआछूत का विचार बंगाल देश की भाँति रहेगा अथवा मद्रास आदि प्रान्तों की भाँति महान् कठोर रूप धारण कर लेगा अथवा पंजाब आदि के समान बिलकुल ही दूर हो जाएगा ? क्या मनु के द्वारा बतलाए हुए अनुलोम क्रम से भिन्न-भिन्न वर्णों का विवाह—जैसा कि नैपाल आदि देशों में आज भी प्रचलित है—फिर सारे देश में प्रचलित होगा,

अथवा बंगाल आदि देशों की भाँति एक वर्ण के अवान्तर भेदों में ही प्रतिबद्ध रहेगा ?

इन सब प्रश्नों का अन्तिम उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, यहाँ तक कि एक ही प्रान्त में भिन्न-भिन्न जाति और वंशों के आचारों की घोर विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए यह मीमांसा और भी अधिक कठिन जान पड़ती है।

सभी हितकर सामाजिक परिवर्तन आभ्यन्तरिक, आध्यात्मिक शक्तियों की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं तथा यदि ये शक्तियाँ ठीक प्रकार से संयोजित और सबल हों, तो समाज उसी के अनुसार अपनी रचना कर लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्या हल करनी है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं। और यही बात राष्ट्रों के लिए भी लागू होती है। फिर, प्रत्येक राष्ट्र का अस्तित्व उसीकी महान् संस्थाओं पर ही निर्भर रहता है तथा इन संस्थाओं का किसी अन्य जाति के ढाँचे के अनुसार परिवर्तन नहीं हो सकता। जबतक उच्चतर संस्थाओं का निर्माण न हो जाय, पुरानी संस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न हानिकारक होगा। उन्नति सदैव क्रमशः तथा धीरे-धीरे होता है। भारतवर्ष के प्रत्येक सुधार के लिए सर्वप्रथम धार्मिक उत्थान की आवश्यकता है। भारतवर्ष को सामाजिक अथवा राजनैतिक विचारों से परिपूर्ण कर देने से पहले उसे आध्यात्मिक भावों में निमग्न करना होगा।

प्रत्येक बात से यही दीख रहा है। समाजवाद अथवा अन्य किसी प्रकार का लोकशासन, चाहे उसका नाम कुछ भी रक्खो, सामने आ रहा है। लोग अवश्य ही चाहेंगे कि उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, परिश्रम कम करना पड़े, किसी प्रकार का अत्याचार न हो, कोई युद्ध न हो तथा खाने के लिए अधिक अन्न मिले। इसी अथवा किसी अन्य सभ्यता के स्थायी होने का भरोसा क्या है, जबतक कि उसका आधार धर्म, मनुष्य का सौजन्य न हो ? विश्वास रक्खो,

इस विषय की जड़ तक धर्म ही पहुंचता है। यदि वह ठीक है तो सब ठीक है।

अस्तु जाति के प्रश्नों को हल करने के लिए हमें किसी उच्च को नीचे नहीं गिराना है और न खान-पान में ही यथेष्ट स्वेच्छाचारिता अथवा अधिक सुखोपभोग के लिए अपनी मर्यादा को ही लाँघ देना है, अपितु उसे हल करने के लिए, हममें से प्रत्येक को वेदान्त धर्म के उपदेशों का पालन करना है, आध्यात्मिकता प्राप्त करनी है तथा आदर्श ब्राह्मण बनना है। हमारे पूर्वजों ने इस देश के प्रत्येक निवासी के लिए नियम निर्धारित कर दिया है। चाहे वह आर्य हो अथवा अनार्य, ऋषि हो अथवा ब्राह्मण, यहाँ तक कि सबसे नीच जाति का ही क्यों न हो, सबको यही समान आदेश है कि बिना रुके उन्नति करते चले जाओ तथा उच्चतम मनुष्य से लेकर नीचतम परिया तक, इस देश का प्रत्येक निवासी आदर्श ब्राह्मण बनने की चेष्टा करे और बने। जाति सम्बन्धी हमारा यही आदर्श है, जो सभी मनुष्यों को ऊपर उठाते हुए, धीरे-धीरे उस आध्यात्मिक पुरुष के उच्चआदर्श का अनुभव कराता है, जो किसी का प्रतिकार नहीं करता तथा जो शान्त, स्थिर, भक्तिसम्पन्न शुद्ध तथा ध्यानपरायण है। इसी आदर्श में साक्षात् भगवान का निवास है।

क्या तुमने यह घोषणा नहीं सुनी है कि ब्राह्मण कानून के अधीन नहीं है? उसके लिए कोई भी कानून नहीं है, इसका शासन राजा नहीं करता तथा उसके शरीर को कोई भी पीड़ित नहीं कर सकता? यह बिलकुल सत्य है। स्वार्थी तथा अज्ञानी मूर्ख लोग इसका जैसा अर्थ करते हैं, इसे उस दृष्टि से मत देखो, अपितु यथार्थ एवं सत्य वैदान्तिक दृष्टि से इसे समझो। यदि ब्राह्मण वह है, जिसने अपनी सम्पूर्ण स्वार्थपरता को नष्ट कर डाला है, जो ज्ञान तथा प्रेम-प्रसूत शक्ति का सन्मान तथा प्रचार करने का कार्य करते हुए जीवन यापन करता है—और यदि किसी देश में ऐसे ही ब्राह्मण, ऐसे ही धार्मिक, नीतिवान तथा सदाचारी सज्जन बसते हों, तो उस देश के कानून से

परे होने में किसी आश्चर्य की बात ही क्या है? उन पर शासन करने के हेतु पुलिस अथवा सेना की क्या आवश्यकता है? वे तो सज्जन तथा उदार हैं, ईश्वर के भक्त हैं और ऐसे ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। हम पढ़ते हैं कि सत्ययुग में केवल एक ही जाति थी और वह थी—ब्राह्मण। महाभारत में हम पढ़ते हैं—प्रारम्भ में सम्पूर्ण संसार में केवल ब्राह्मणों का ही निवास था और ज्यों-ज्यों उनकी अवनति होती गई, उनकी भिन्न-भिन्न जातियाँ बनती गईं, और जब चक्र घूमेगा तब वे फिर अपने मूलस्थान ब्राह्मणत्व को प्राप्त होंगे। अब यह चक्र घूम रहा है—मैं इसी बात की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

भगवान् श्रीरामकृष्ण ने जिस दिन जन्म लिया, उसी दिन से सत्ययुग का प्रारम्भ हो गया है। अब समस्त भेदभावों का अन्त होगा तथा चांडाल तक सभी लोग ईश्वरीय प्रेम के साझीदार होंगे। स्त्री तथा पुरुष, धनी तथा निर्धन, विद्वान् तथा मूर्ख, ब्राह्मण तथा चांडाल आदि सब भेदों को समूल नष्ट करने के लिए ही उन्होंने अपने जीवन को व्यतीत किया। वे शान्ति के दूत थे। हिन्दू और मुसलमान, हिन्दू और ईसाई—यह भेद अब अतीत की वस्तु हो गया है। इन भेदभावों के झगड़े अब पिछले युग की बात हो गए हैं। इस सत्ययुग में श्रीरामकृष्ण परमहंस के प्रेम की महातरंग ने सब को एक कर दिया है।

मेरा विश्वास है कि जब एक जाति तथा एक वेद होगा, जब सब जगह शान्ति तथा एकता स्थापित होगी, तभी सत्ययुग आएगा। सत्ययुग की यह भावना ही भारतवर्ष को पुनर्जीवन प्रदान करेगी। इसपर विश्वास करो। उठो, इस कार्य में लग जाओ। पुरातन हिन्दू-धर्म सदैव बना रहे। उठो, उठो, हमारी विजय निश्चित है।

× × ×

क्रमशः देश भर के लोगों को ब्राह्मण के पद पर उन्नत करना है। मैं कहता हूँ कि प्रत्येक हिन्दू दूसरे हिन्दू का भाई है तथा हमीं ने अपनी 'छूओ मत, छूओ मत' की पुकार से उन्हें नीचे गिरा दिया है।

और इस प्रकार सम्पूर्ण देश नीचता, कायरता एवं अज्ञान के गहन गर्त्त में एकदम डूब गया है। उन लोगों का उद्धार करना है, उन्हें आशा तथा श्रद्धा का संदेश सुनाना है। हमें उन्हें यह बताना है कि तुम भी हमारी ही भाँति मनुष्य हो, और तुम्हें भी वही अधिकार हैं, जो हमारे हैं। अब तुम इस बात को समझ गए न ?

हमें भारतवर्ष की उन्नति करनी है—दरिद्रों को भोजन देना है, शिक्षा का प्रसार करना है तथा पुरोहिती के दोष को दूर करना है। कोई पुरोहिती छल न रहे, कोई सामाजिक अत्याचार न रहे। हमारे नासमझ युवक अंग्रेजों से अधिक अधिकार पाने के लिए सभाएँ करते हैं, परन्तु अँग्रेज लोग उन पर केवल हँसते हैं। जो स्वतंत्रता देने को प्रस्तुत नहीं है, वह स्वतंत्रता पाने योग्य भी नहीं है। मानलो, अँग्रेजों ने तुम्हें सभी अधिकार सौंप दिए, तब तो तुम प्रजा को और भी अधिक दबाओगे तथा उन्हें कुछ भी अधिकार नहीं दोगे। गुलाम लोग गुलाम बनाने के लिए ही अधिकार की माँग करते हैं।

अब, केवल धर्म पर बल देकर तथा समाज को स्वतंत्रता देकर इस कार्य को धीरे-धीरे सिद्ध करना है। प्राचीन धर्म द्वारा पुरोहिती दल को उखाड़ फेंको, इससे तुम्हें संसार में सर्वोत्तम धर्म प्राप्त हो जाएगा। मेरी बात तो समझ गए न ? भारतीय धर्म के आधार पर क्या तुम यूरोप जैसे समाज का निर्माण कर सकते हो ? मुझे विश्वास कि यह सम्भव है और होना भी चाहिए।

उपनिषद्काल से लेकर वर्तमान समय तक हमारे प्रायः सभी धर्माचार्य जाति बन्धन को, जाति की इस गिरी हुई अवस्था को—मूल जाति प्रथा को नहीं—तोड़ने के लिए कहते आए हैं। आज की वर्तमान जाति में जो तुम थोड़ी-बहुत अच्छाई देखते हो, वह मूलजाति प्रथा से ही आई हुई है। वह प्रथा अत्यन्त गौरवशालिनी, सामाजिक संस्था थी। गौतम बुद्ध ने जाति को उसके वास्तविक रूप में स्थापित

करने की चेष्टा की। भारतवर्ष के प्रत्येक जागृति काल में जाति वन्धन को तोड़ने के लिए निरन्तर प्रयत्न किए गए हैं, परन्तु हम भारत-वासियों को सदैव ही ऐसे नव भारत का निर्माण करना होगा, जो हमारे अतीत का ही फल, स्वरूप तथा क्रम हो। इसके लिए हमें साथ ही साथ उपयोगी विदेशी भावों को भी लेकर—वे जहाँ कहीं भी प्राप्त हों—आत्मसात् करना होगा। यह कार्य विदेशियों द्वारा कभी सम्भव नहीं हो सकता। विकास भीतर से ही होना चाहिए। ओह! हमारी दरिद्रता भयानक है तथा हमारे जनसाधारण भौतिक विषयों में अत्यन्त अज्ञानी हैं। हमारे जनसाधारण वहुत भले हैं, क्योंकि यहाँ दरिद्रता कोई अपराध नहीं। हमारे जनसाधारण हिंसा प्रिय नहीं है। हमें उन्हें लौकिक शिक्षा देनी है। हमें अपने पूर्वजों के निर्धारित क्रम का पालन करना है। अर्थात् सभी आदर्शों को क्रमशः जनसाधारण में नीचे तक पहुंचाना है। उन्हें धीरे-धीरे ऊपर उठाओ—अपने साथ समता स्थापित होने तक उन्हें क्रमशः ऊपर चढ़ाओ। उन्हें धर्म के द्वारा भौतिक ज्ञान भी दो। सभी सामाजिक उत्थान करने वाले, कम से कम उनके नेतागण, यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उनके सभी साम्य-वाद अथवा समानता स्थापित करने वाले सिद्धान्तोंका आधार आध्या-त्मिक हो तथा वह आध्यात्मिक आधार केवल वेदान्त में ही है। मेरे व्याख्यानों में उपस्थित होने वाले अनेक नेताओं ने मुझसे यह कहा है कि नई रचना के आधार के लिए हमें वेदान्त की आवश्यकता है—

गीता में यदि कोई वात मेरे मन के योग्य है, तो वह निम्न-लिखित दो श्लोकों में है। भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश में यही अत्यन्त शक्तिशाली तथा सारभूत तत्त्व है—

> समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
> विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
> समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
> न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥१३।२७-२८

"जो सभी भूतों में बसने वाले ईश्वर को, नाशवान् वस्तुओं में उस अविनाशी को देखता है, वास्तव में वही देखता है, क्योंकि सब जगह विद्यमान् ईश्वर को एक समान देखते हुए वह अपनी हिंसा अथवा नाश आप ही नहीं करता और इस प्रकार परमगति को प्राप्त हो जाता है।"

मनुष्यजाति के सुधार तथा उत्थान के लिए परमात्मा के समान रूप से सब जगह विद्यमान होने के आश्चर्यमय भाव का उपदेश यहाँ तथा अन्यत्र करना है। जहाँ भी दोष हो, अज्ञान हो अथवो ज्ञान का अभाव हो—मेरा यही अनुभव रहा है कि सभी दोषों की उत्पत्ति, जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं, भेद-भाव में विश्वास रखने के कारण ही होती है, और समानता में, सभी भूतों के अन्तःस्थित एकत्व में विश्वास करने से सम्पूर्ण हितों की प्राप्ति होती है। यही महान् वैदान्तिक आदर्श है।

इसके विपरीत, हमारा यह अनुभव है कि प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में इस समता तक पर्याप्त मात्रा में यदि किसी धर्म के अनुयायी कभी पहुंचे, तो वे केवल इस्लाम के अनुयायी ही हैं—भले ही उन्होंने उसके अन्तःस्थित गूढ़ अर्थ को न समझा हो, जिसे साधारणतः हिन्दू लोग स्पष्ट रूप से समझते हैं। हमारी मातृभूमि के लिए केवल एक ही आशा है, और वह है हिन्दू व इस्लाम धर्मों का—वेदान्ती मस्तिष्क तथा इस्लामी शरीर का—संयोग।

विचार व कार्य की स्वतंत्रता ही जीवन, उन्नति व हित साधन का एकमेव मार्ग है। जहाँ यह स्वतंत्रता नहीं है, वहाँ मनुष्य, जाति तथा राष्ट्र की अवनति अवश्यम्भावी है। जाति हो अथवा न हो, पंथ हो अथवा न हो, कोई भी मनुष्य, वर्ग अथवा जाति, राष्ट्र अथवा संस्था—जो व्यक्ति के स्वतंत्र विचार व कार्यशक्ति का तब भी अवरोध करती है, यद्यपि वह शक्ति दूसरों को कोई हानि नहीं पहुंचाती—आसुरी ही है व उसका नाश होना चाहिए। अपने समक्ष यह सिद्धान्त वाक्य रक्खो-

'धर्म पर आघात न करते हुए जनसाधारण का उत्थान।' क्या तुम उनका उत्थान कर सकते हो? क्या तुम उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व, उनकी स्वाभाविक, आध्यात्मिक प्रवृत्ति को नष्ट किए बिना वापिस दे सकते हो? क्या तुम अपनी समानता, स्वतंत्रता, कर्म व शक्ति की भावना में पाश्चात्यों से बढ़कर पाश्चात्य बन सकते हो तथा साथ-ही-साथ धार्मिक संस्कृति एवं भावनाओं में, नस-नस में हिन्दू भी बने रह सकते हो? सदैव आगे बढ़ो। "मृत्यु की भी चिन्ता न करते हुए, दरिद्रों के लिए एवं पददलितों के लिए सहानुभूति रखना"—यही हमारा सिद्धान्त वाक्य है। बहादुर बालको! आगे बढ़ो।

हिन्दू अपना धर्म न छोड़े, परन्तु उस धर्म को उचित मर्यादा के भीतर रहते हुए समाज को आगे बढ़ने के लिए स्वतंत्रता दे। भारतवर्ष के सभी पुराने सुधारकों ने यह बड़ी भूल की कि उन्होंने पुरोहितों के छल की भयानकता तथा देश की पतनावस्था के लिए धर्म को उत्तरदायी ठहराया और इसीलिए वे धर्म रूपी अविनाशी भवन को ढहाने के हेतु आगे बढ़े। परिणाम क्या हुआ? केवल असफलता! गौतम बुद्ध से लेकर राजा राममोहनराय तक प्रत्येक ने जाति को धार्मिक संस्था मानने की गलती की तथा धर्म एवं जाति को एक साथ नष्ट करने का प्रयत्न किया। परन्तु वे उसमें असफल रहे। पुरोहितों की चिल्लाहट तथा बकझक के रहते हुए भी जाति एक सुदृढ़ सामाजिक संस्था बनी हुई है, जो अपना कार्य पूरा करने के उपरान्त आज भारतवर्ष के वातावरण को अपनी दुर्गन्ध से दूषित कर रही है। उसे दूर करने का यही उपाय है कि मनुष्यों को उनका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व फिर लौटा दिया जाय। संयुक्तराज अमेरिका में जन्म लेने वाला प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि वह मनुष्य है। और भारतवर्ष में जन्म लेने वाला प्रत्येक मनुष्य यही समझता है कि वह समाज का गुलाम है। अब स्वतंत्रता ही उन्नति का एकमेव उपाय है। उसे मिटादो तो परिणाम में अवनति ही होगी। आधुनिक प्रतिस्पर्धा के प्रचलित

होने के कारण, देखलो कि जाति का कितना शीघ्र लोप हो रहा है। अब उसे मिटाने के लिए किसी धर्म की आवश्यकता नहीं है। उत्तर भारत में ब्राह्मण जाति के बहुत से लोग दूकानदारी करते हुए और जूते तथा शराब बनाते हुए पाए जाते हैं। ऐसा क्यों हुआ ? प्रतिस्पर्धा के कारण वर्तमान शासन में किसी भी मनुष्य को अपनी आजीविका के हेतु, वह चाहे कुछ भी करे, स्वतंत्रता है। उसके लिए कोई मनाही नहीं है। इसका परिणाम प्रबल प्रतिस्पर्धा के रूप में आया है और इस तरह सहस्रों मनुष्य नीचे सड़ते हुए पड़े रहने के बजाय अपने योग्य उच्चत्तर स्तर—जैसे उन्होंने उसी के लिए जन्म लिया हो— ढूंढ़ लेते हैं और पा जाते हैं।

अंग्रेजी राज्य शासन रूपी अस्त्र को ईश्वर ने यहाँ तुम्हारी सुदृढ़ सभ्यता को तोड़ने के लिए भेजा है।

× × ×

हम अपने शास्त्रों में दो प्रकार के सत्य पाते हैं। एक तो वह, जो मनुष्य की सनातन प्रकृति पर आधारित है और जो परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति के सनातन सम्बन्ध के बारे में है और दूसरा स्थायी परिस्थितियों के तत्कालीन वातावरण एवं सामाजिक संस्थाओं आदि से सम्बन्ध रखता है। पहले प्रकार का सत्य मुख्य रूप से हमारे वेदों तथा शास्त्रों में निहित है और दूसरे प्रकार का सत्य स्मृतियों, पुराणों आदि में आबद्ध है। हमें याद रखना चाहिए कि प्रत्येक समय के लिए वेदही अन्तिम ध्येय तथा प्रमाण हैं और यदि किसी विषय पर पुराणों का वेदों से मतभेद हो, तो पुराणों के उस भाग को बिना किसी हिचक के एकदम अस्वीकार कर देना होगा। यह तुम्हारा एक सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत है और जबतक इस संसार में मनुष्य जाति विद्यमान है, तबतक इन सनातन सत्यों में कोई परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि ये मानव प्रकृति पर ही आधारित हैं। वे सर्वकालीन, सर्वव्यापी तथा सार्वदेशिक, सद्गुण हैं। परन्तु स्मृतियाँ स्थानीय परिस्थितियों, भिन्न २

अवस्थाओं के कर्तव्यों की चर्चा करती हैं। उनमें समयानुसार परिवर्त्तन होता रहता है। तुम्हें यह सदैव याद रखना चाहिए कि किसी छोटी-मोटी सामाजिक प्रथा में परिवर्त्तन होने के कारण तुम अपने धर्म से तनिक भी च्युत नहीं होते हो। स्मरण रक्खो, इन प्रथाओं में तो पहले भी परिवर्त्तन हो चुका है। जैसे-जैसे समय बीतता जाएगा, अधिकाधिक स्मृतियों का अन्त होता जाएगा। ऋषिगण आते जाएँगे तथा वे समय की आवश्यकता के अनुसार समाज में परिवर्त्तन करके उसे अधिक अच्छे मार्ग पर ले जाएँगे तथा उचित कर्तव्य-पथ का निर्देश करेंगे। इसके विना समाज का जीवित रहना असम्भव है। मुझे धर्मोन्मत्त की तीव्रता एवं भौतिकवादी का विस्तार—ये दोनों गुण ही साथ-साथ चाहिए। समुद्र की भाँति गम्भीर तथा अनन्त आकाश की भाँति विशाल हृदय की हमें आवश्यकता है। हम पृथ्वी के किसी भी देशकी भाँति प्रगतिशील बनें तथा साथ-ही-साथ अपनी पुरानी संस्कृति के प्रति उसी तरह प्रामाणिक एवं कट्टर बने रहें, जैसा रहना कि केवल हिन्दू ही जानता है।

अचानक परिवर्त्तन हो जाना सम्भव नहीं है। शङ्कराचार्य इसे जानते थे तथा रामानुज भी जानते थे। उनके लिए केवल एक ही मार्ग था और वह था तत्कालीन वर्तमान धर्म को धीरे-धीरे उच्चतम आदर्श की ओर बढ़ना। यदि वे किसी अन्य उपाय की योजना करने की चेष्टा करते तो वे ढोंगी सिद्ध होते; क्योंकि उनके धर्म का मौलिक सिद्धान्त क्रमविकासवाद ही है।

क्या तुमने भारतीय समाज को कभी एक ही रूप में अवस्थित पाया है? वह तो सदैव गतिशील है। जाति में सदा परिवर्त्तन होता रहा है। शास्त्रीय विधियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। उसी प्रकार स्थान भी बदलते हैं। केवल न बदलने वाला वह सारतत्त्व तथा सिद्धान्त ही है। हमें अपने धर्म की शिक्षा वेदों से ही ग्रहण करनी है। केवल वेदों के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रंथों में परिवर्त्तन होना ही चाहिए।

उदाहरण के लिए, कोई एक स्मृति किसी एक काल के लिए प्रभावशाली होती है, तो कोई दूसरी स्मृति किसी अन्यकाल के लिए। जाति को मिटाना नहीं चाहिए, अपितु उसमें समयोचित परिवर्त्तन करना चाहिए। पुराने ढाँचे के भीतर और भी दो लाख नए ढाँचे निर्माण करने की जीवनी शक्ति है। जाति को नष्ट करने की इच्छा निरी मूर्खता है। नई रीति है—पुराने का विकास करना।

क्या तुम भारतवर्ष का इतिहास पढ़ते हो? रामानुज कौन थे? शङ्कराचार्य कौन थे? चैतन्य कौन थे? कबीर कौन थे? दादू कौन थे? एक के पश्चात् दूसरे आने वाले उज्ज्वलतम नक्षत्रों की भाँति भारतीय आकाश पर उदित होने वाले ये सभी महान् धर्माचार्य कौन थे? क्या रामानुज को नीच जातियों से सहानुभूत नहीं थी? क्या उन्होंने परिया जाति को भी अपनी जाति में सम्मिलित कर लेने के लिए जीवन भर प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने मुसलमानों को भी अपने मार्ग पर लाने का प्रयत्न नहीं किया? क्या नानक ने हिन्दू तथा मुसलमानों से मेलजोल करके एक नए वातावरण का निर्माण करने की चेष्टा नहीं की? उन सभी ने चेष्टा की तथा उनका कार्य आज भी चल रहा है कि आज के सुधारकों की भाँति उनमें आडम्बर नहीं था। वर्त्तमान सुधारकों की भाँति उनके मुख में शाप अथवा निन्दा के शब्द नहीं थे। वे अपने मुख से केवल आशीर्वाद का ही उच्चारण करते थे, उन्होंने कभी भी किसी का तिरस्कार नहीं किया। वे लोगों से यही कहते थे कि समाज की उन्नति होनी चाहिए। वे अतीत की ओर देखकर कहा करते थे—"हे हिन्दुओ! तुमने जो कुछ किया है, वह अच्छा ही किया; परन्तु आओ, अब हम उससे भी अधिक अच्छा कार्य करें।" हमें अपनी प्रकृति के अनुसार ही उन्नति करनी है। विदेशी समाजों ने हमारे ऊपर जिस कार्यप्रणाली को लाद रक्खा है, उसके अनुसार प्रयत्न करना व्यर्थ है, असम्भव है।

× × ×

भारतवर्ष में हमारे मार्ग में तो बड़े विघ्न हैं—एक है पुरानी धार्मिक कट्टरता तथा दूसरा है—वर्तमान यूरोपीय सभ्यता।

जिस तरह हमारे देश में संगठन एवं बाह्य सभ्यता के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचार—चाहे वे हमें पसंद हों अथवा न हों—प्रचुर मात्रा में प्रविष्ट हो रहे हैं, उसी तरह भारतीय आध्यात्मिकता तथा दर्शन पश्चिमी देशों को प्लावित कर रहे हैं। इसे कोई रोक नहीं सकता और न हम ही पश्चिम की भौतिक सभ्यता को किसी तरह रोक सकते हैं। उसमें से कुछ थोड़ा ले लेना, शायद हमारे लिए हितकारक ही होगा और कुछ आध्यात्मिकता पाश्चात्यों के लिए भी लाभदायक होगी। इस तरह समतोल बना रहेगा। यह नहीं कि हम प्रत्येक बात को पश्चिम से सीखें अथवा वे प्रत्येक बात को हम से सीखें। परन्तु प्रत्येक को, सम्पूर्ण राष्ट्रों की उस एकता के हेतु, उस एक आदर्श संसार के निर्माण के हेतु, जो युगों का स्वप्न रहा है, अपने-अपने पास की वस्तु भावी पीढ़ियों को देनी होगी।

आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में अमेरिका निवासी हम से बहुत पीछे हैं, परन्तु उनका समाज हम से बहुत अच्छा है। हम उन्हें अपना आध्यात्म सिखाएँगे तथा उनके समाज में जो कुछ अच्छा है, उसे स्वयं अपनाएँगे।

हमने सामाजिक विषयों के विकास के लिए स्वतंत्रता नहीं दी है, और इसी से हमारा समाज कुंठित होगया है। हमें भारतवर्ष के सामाजिक बंधनों को काटना है तथा यूरोप में आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है।

पश्चिमी देशों में आनुवंशिक जाति सम्बन्धी कोई झगड़ा नहीं है। उद्योग तथा परिश्रम के कारण जिन पर भाग्यलक्ष्मी की कृपा है, वे ही देश के नेता तथा उसके भाग्य के नियंत्रणकर्त्ता माने जाते हैं। भारतवर्ष में, तुम केवल अपने उच्च जाति के होने का अभिमान करते हो और एक दिन ऐसा आता है, जब तुम्हें एक कौर के भी लाले पड़

जाते हैं। तुममें एक सुई बनाने तक की योग्यता भी नहीं है, फिर भी तुम अँग्रेजों की निन्दा करते हो—यह कैसी मूर्खता है ?

विशाल हृदय होना, संकीर्ण सीमा के बाहर निकलना, अपने में दूसरों को सम्मिलित करना, सार्वजनिक रूप देना—यही हमारे उद्देश्यों का अंतिम लक्ष्य है, परन्तु इसके विपरीत हम स्वयं को दिन-प्रतिदिन और अधिक छोटा बनाते चले जा रहे हैं। शास्त्रों द्वारा विहित कार्यक्रम के विरुद्ध स्वयं को अलग करते जा रहे हैं। उस जाति से तुम क्या आशा कर सकते हो, जहाँ शताब्दियों तक ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर विवाद होता रहा हो कि पानी को दाहिने हाथ से पिया जाय अथवा बाएँ हाथ से ? उस देश में इससे अधिक अवनति और क्या हो सकती है, जहाँ के महान् विचारक सैकड़ों वर्ष से रसोई के सम्बन्ध में वाद-विवाद कर रहे हैं, जहाँ बस बहस छिड़ी हुई हैं कि मैं तुम्हें स्पर्श करूँ अथवा नहीं। तुम मुझे स्पर्श करो अथवा नहीं।' और यदि स्पर्श हो ही जाय तो उसका प्रायश्चित क्या होना चाहिए।

एक ओर तो पुरानी कुसंस्कारयुक्त कट्टरता है, और दूसरी ओर है—भौतिकता, यूरोपीयता, अनात्मभाव, तथाकथित सुधार, जो पाश्चात्य उन्नति से नींव तक घुस गए हैं। हमें इन दोनों चट्टानों के बीचसे अपना मार्ग ढूँढ निकालना है। हमें इन दोनोंसे सावधान रहना है। पहले तो हम पाश्चात्य नहीं बन सकते, अतः पाश्चात्यों की नकल करना व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि यह असम्भव भी है। क्या तुम यह समझते हो कि बीसों शताब्दियों की तेजोमयी संस्कृति को दूर फेंक देना सम्भव है ? ऐसा नहीं हो सकता, हमें सदैव यह भी याद रखना चाहिए कि प्रत्येक छोटे ग्रामीण देवता में तथा प्रत्येक अन्धविश्वासी रूढ़ि में वह बात समाई हुई है, जिसे हम धार्मिक श्रद्धा के नाम से पुकारते आए हैं। परन्तु स्थानीय रूढ़ियाँ तो अनन्त हैं। एवं वे परस्पर विरोधी भी होती हैं। तब प्रश्न उठता है, हम किसे मानें और किसे नहीं मानें ? उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत का ब्राह्मण

किसी अन्य ब्राह्मण को माँस खाते हुए देखकर घबरा उठेगा, परन्तु उत्तर भारत का ब्राह्मण सम्भवतः उसे इतना बुरा नहीं मानेगा—कभी-कभी तो वह बलिदान में सैकड़ों बकरों को मारता है। यदि तुम अपनी रूढ़ियाँ बताओगे, तो वे भी अपनी रूढ़ियों को लिए हुए सामने ही तैयार हैं।

सीलोन में जाति के प्रतिबन्ध भारतवर्ष की अपेक्षा बहुत कम हैं। बौद्धों में विवाह सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध हैं, परन्तु खान-पान में कोई प्रतिबन्ध नहीं है, जिसमें कि हिन्दू लोग रखते हैं। सभी हिन्दू जातियाँ मिलकर एक ही हिन्दू जाति बन गई है जिसमें पंजाबी जाट की भाँति एक पुरुष किसी भी जाति की लड़की से—यहाँ तक कि यूरोपियन लड़की से भी—विवाह कर सकता है। लड़का मंदिर में जाकर अपने मस्तक पर पवित्र त्रिपुण्ड चिह्न धारण करके 'शिव-शिव' जपने से ही हिन्दू बन जाता है। इस तरह पति हिन्दू और पत्नी ईसाई हो सकती है। ईसाई अपने मस्तक पर पवित्र भस्म लगा कर "नमः पार्वती पतये" कहकर एकदम हिन्दू बन जाता है।

सम्पूर्ण भारतवर्ष में अनेकों रूढ़ियाँ हैं, परन्तु वे स्थानीय हैं। लोग अनजान में सबसे बड़ी गलती यही करते हैं कि वे इन स्थानीय रूढ़ियों को ही अपने धर्म की सार वस्तु समझ बैठते हैं।

× × ×

यद्यपि देखने में हमारी जातियाँ तथा संस्थाएँ हमारे धर्म से जुड़ी हुई लगती हैं, परन्तु वास्तव में वे ऐसी हैं नहीं।

जाति प्रथा तो वेदान्त धर्म के विरुद्ध है। जाति एक सामाजिक रूढ़ि है तथा हमारे सभी महान् आचार्य उसे तोड़ने का प्रयत्न करते आए हैं। बौद्ध धर्म से आरम्भ करके सभी पंथों ने जाति के विरोध में ही प्रचार किया है, परन्तु हर समय वह श्रृंखला दृढ़ ही होती रही है। जाति तो केवल भारतवर्ष की राजनैतिक संस्थाओं में से निकली हुई वस्तु है, वह एक परम्परागत व्यावसायिक संस्था है, किसी उपदेश की

अपेक्षा यूरोप के साथ व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा ने जाति बन्धन को बहुत अधिक तोड़ दिया है।

धर्म में कोई जाति नहीं होती, जाति तो केवल एक सामाजिक रूढ़ि है।

लिंग, जाति, धर्म, विद्या तथा इसी तरह के अन्य भेद जो नर्क के द्वार हैं, संसार तक ही सीमित रहें। लोग गिरजाघर में पहुंचकर भी यही सोचते हैं कि अमुक स्त्री वेश्या है, अमुक पुरुष नीच जाति का है, अमुक दरिद्र है, अमुक साधारण है, आदि आदि—ऐसा सोचने वालों की संख्या जितनी ही कम हो, उतना ही शुभ है। क्या भक्तों की जाति, लिंग, व्यवसाय आदि को देखने वाले ये लोग हमारे भगवान का सम्मान करेंगे ?

कोई भी व्यक्ति, चाहे वह शूद्र अथवा चांडाल ही हो, ब्राह्मण को भी तत्वज्ञान की शिक्षा दे सकता है। सत्य की शिक्षा अत्यन्त नीच व्यक्ति से भी प्राप्त की जा सकती है—फिर वह व्यक्ति किसी भी जाति अथवा पंथ का क्यों न हो ! हमारे अधिकांश उपनिषद् क्षत्रियों के लिखे हुए हैं। भारतवर्ष में हमारे महान् आचार्य मुख्य रूप से क्षत्रिय ही थे तथा उनके उपदेश सदैव सार्वभौमिक रहे हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध—जिनकी पूजा अवतार मानकर की जाती है—ये सब क्षत्रिय ही थे।

हिन्दूधर्म के दो विभाग है—कर्मकांड तथा ज्ञानकांड। ज्ञानकांड का अध्ययन विशेषकर सन्यासी करते हैं। उनकी कोई जाति नहीं होती। उच्चतम जाति वाले तथा नीचतम जाति वाले दोनों ही मनुष्य सन्यासी हो सकते हैं। और दोनों जातियाँ एक-सी बन जाती हैं।

यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि कानून, शासन, तथा राजनीति, ये जीवन के भिन्न-भिन्न पहलू हैं, ये किसी भी तरह अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। उनसे परे एक ऐसा लक्ष्य है, जहाँ कानून की आवश्यकता नहीं। और इसे भी जान लो कि सन्यासी शब्द का अर्थ ही है 'कानून से बाहर, विधि निषेध से परे, ईश्वरीय विभूति। कोई उसे

ईश्वरीय शून्यवादी भी कह सकते हैं; परन्तु इस शब्द का उपयोग करने से एक गलत-सी भावना उत्पन्न हुआ करती है।

बुद्ध अवतार में भगवान् ने कहा है कि आधिभौतिक दुःख का मूल यह जातिभेद ही है अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए कि प्रत्येक प्रकार का वर्गभेद ही, उसका आधार चाहे जन्म हो अथवा विद्या अथवा धन, इस दुःख के मूल में हैं। आत्माओं में लिंग, वर्ण, आश्रम अथवा उस प्रकार का अन्य कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार कीचड़ को नहीं धोया जा सकता, उसी तरह विभाजक भावों तथा विचारों के द्वारा एकत्व को प्राप्त होना सम्भव है।

मुझसे पूछो तो मैं इस जाति विषयक प्रश्न में से किसी भी पक्ष का नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह एक सामाजिक नियम है और इसका आधार गुण-कर्मभेद ही है। जो गुण तथा कर्म से परे जाने के लिए कटिबद्ध है, उसके मन में यदि किसी तरह के जातिभेद की भावना आती है तो वह उसके लिए अत्यन्त हानिकारक होगी।

मेरे मन में यह धारणा दिन प्रतिदिन दृढ़ होती जा रही है कि जाति का विचार ही सबसे बड़ा भेद उत्पन्न करने वाला तथा माया की जड़ है। समस्त जातिभेद, चाहे वह जन्मगत हो अथवा गुणगत, बन्धन है। कई मित्र राय देते हैं—'यह सत्य है।' परन्तु इस बात को मन में ही रक्खो। बाहर सापेक्ष जगत् में तो जाति-भेद आदि को बनाए रखना आवश्यक है। कायर, दुर्बल प्रयत्न के द्वारा जैसे-तैसे एकत्व की भावना तो मन में रक्खी हुई है, परन्तु बाहर निर्दयता तथा अत्याचार का नारकीय नृत्य हो रहा है। हे दरिद्रों का खून चूसने वालो! यदि कहीं परिया अधिक धनी हुआ, तब तो तुम अवश्य ही यह कह उठोगे—"अरे, वह तो धर्म का रक्षक है।"

इन बातों के अतिरिक्त मैंने अपने अध्ययन में यह भी पाया है कि धर्म का अनुशासन अथवा विधि-निषेध शूद्रों के लिए नहीं हैं। यदि वह खान-पान अथवा विदेश यात्रा के सम्बन्ध में उचित-अनुचित का विचार करें, तो वह सब उसके लिए निरर्थक है; उसका उतना

सोचने का परिश्रम भी व्यर्थ होगा। मैं शूद्र हूँ, मैं म्लेच्छ हूँ, अतः इन सब झंझटों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरे लिए तो म्लेच्छ का अन्न तथा परिया का अन्न दोनों एक जैसे हैं। जाति इत्यादि सम्वन्धी पागलपन तो पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तक में है। ये वातें ईश्वर प्रणीत ग्रन्थों में नहीं हैं। पुरोहित लोग अपने पूर्वजों की कमाई का फल भोगें, और मैं ईश्वर के आदेशों का पालन करूँगा, क्योंकि मेरी भलाई उसी में है।

प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि धर्म का कोई दोष नहीं है, अपितु दोष उनका है जो ढोंगी तथा दम्भी हैं, जो पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्र का निर्माण करते हैं। पृथ्वी पर कोई ऐसा धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म की भाँति इतने उच्चस्वर से मनुष्यता के गौरव का उपदेश करता हो, तथा पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म की भाँति दरिद्रों तथा नीची जाति वालों का इतनी क्रूरता से गला घोंटता हो।

८४\

पुरोहित एवं अधिकार

पुरोहितों का विश्वास है कि ईश्वर है, परन्तु उसके समीप पहुंचना और उसे जानना, केवल उन्हीं के द्वारा हो सकता है। लोग उस पवित्रतम के समीप केवल पुरोहित की अनुमति से ही जा सकते हैं। तुम उन्हें धन दो, उनकी पूजा करो तथा सब बातें उनके हाथ में देदो। संसार के इतिहास में यह पुरोहिती प्रकृति बारम्बार प्रकट होती रही है—यह भयानक अधिकार-लिप्सा, यह व्याघ्र के समान तृष्णा, मनुष्य-प्रकृति के एक अंग की भाँति दिखाई देती है। पुरोहित लोग तुम्हारे ऊपर शासन करते हैं और तुम्हारे लिए सहस्रों नियम बनाते हैं। वे सरल सत्यों को अनेक प्रकार से घुमा-फिरा कर बताते हैं और तुम्हें अपनी श्रेष्ठता का समर्थन करने वाली कथाएं सुनाते हैं।

भारतवर्ष के पुरोहितों—ब्राह्मणों को—महान् बौद्धिक एवं मानसिक शक्ति प्राप्त थी। भारतवर्ष की आध्यात्मिक उन्नति का प्रारम्भ करने वाले वे ही लोग थे और उन्होंने आश्चर्यजनक कार्य भी सम्पन्न किए, परन्तु धीरे-धीरे ऐसा समय भी आया, जब उन्नति की

वह स्वतंत्र भावना, जिससे वे पहले प्रेरित और परिचालित हुए थे, नष्ट होगई। वे अपने लिए प्रभुता तथा अधिकार वटोरने में लग गए। यदि ब्राह्मण ने किसी मनुष्य को मार भी डाला तो उसे दण्ड नहीं मिलता था। ब्राह्मण जन्म से ही संसार का स्वामी है। दुष्ट से दुष्ट ब्राह्मण की पूजा होनी चाहिए।

भारतवर्ष में, सामाजिक जीवन के अन्य व्यवसायों की भांति, पुरोहिती भी एक आनुवंशिक व्यवसाय है। पुरोहित का लड़का पुरोहित ही होगा, जिस तरह वढ़ई का लड़का वढ़ई, अथवा लुहार का लड़का लुहार होता है।

प्राचीन मतावलम्वी हिन्दू अत्यन्त आत्मसीमित वृत्ति वाले होते हैं। वे स्वयं अपने ही निजी विचार तथा भावना की चहारदीवारी के भीतर रहा करते हैं। उनकी जीवनचर्या हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वड़ी सूक्ष्मता के साथ दी गई है और वे लोग सूक्ष्म वातों को भी वज्र जैसी दृढ़ता से पकड़े रहते हैं। जितनी ऊँची जाति होगी, उतने ही कड़े प्रतिवन्ध भी होंगे। अत्यन्त नीच जाति के लोग अपनी इच्छानुसार कुछ भी खा-पी सकते हैं, परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य सामाजिक श्रेणी में ऊपर चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अधिक वड़े प्रतिवन्ध भी लगते जाते हैं। और जव वह उच्चतम ब्राह्मण जाति—भारतवर्ष की परम्परागत पुरोहितों की जाति—में पहुंचता है, तव तो उसका जीवन अत्यधिक सीमावद्ध हो जाता है।

जव कोई समुदाय उन्नत दशा को प्राप्त हो जाता है, तव वह स्वभावत: अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है। अत: उच्च जाति वालों ने—और विशेषकर ब्राह्मणों ने, जव कभी भी उन्हें राजा की सहायता प्राप्त हो सकी, तभी नीच जाति वालों की इस इच्छा को, कि उन्हें भी ब्राह्मणों की भाँति अधिकार प्राप्त हो जाय, दवाने का प्रयत्न किया, और सम्भव हो सका तो वह प्रयत्न तलवार के वल पर ही किया गया। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या वे फल हुए ? अपने पुराणों तथा उपपुराणों को ूक्ष्म दृष्टि से देखो—

विशेषकर बड़े पुराणों के खंडों को, फिर अपने चारों ओर देखो कि तुम्हारी आँखों के समक्ष क्या हो रहा है। बस, तुम्हें स्वयं ही उत्तर प्राप्त हो जाएगा।

× × × ×

पुरोहिती प्रभुता की नींव बौद्धिक-शक्ति पर है, न कि शास्त्रों की भौतिक शक्ति पर। अस्तु, पुरोहिती प्रभुता का अधिकार होने पर बौद्धिक तथा साहित्यिक संस्कृति का अधिक प्रसार होता है। पुरोहित देवताओं को जानता है तथा उनसे सम्बन्ध स्थापित करता है। इसीलिए उसकी पूजा भी देवताओं की भाँति ही होती है। सांसारिक विचारों को त्यागने के कारण उसे अपनी जीविका का उपार्जन शारीरिक परिश्रम द्वारा नहीं करना पड़ता। सार्वजनिक जीवन के हित तथा कल्याण के अंकुर को अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा, ज्ञान तथा विद्या के प्रति अपने प्रेम एवं त्याग-वैराग्य द्वारा, जो कि उसके जीवन का मूल मंत्र है, वह बढ़ाता है। इतना ही नहीं, वह स्वयं अपने जीवन-रक्त से उस अंकुर को सींचता है, इसी कारण हमारे लिए उसकी स्मृति भी पवित्र वस्तु है।

परन्तु उसमें दोष भी हैं। पुरोहित स्वभावतः अपने मन में कहता है—"अपनी उस प्रभुत्व शक्ति को, जिससे देवता मेरे अधीन हो गए हैं, जिसके द्वारा भौतिक एवं मानसिक रोगों पर मुझे अधिकार प्राप्त हो गया है, और जिसके बल पर मैं भूत, प्रेत, राक्षस तथा अन्य अदृश्य शक्तियों से काम ले सकता हूँ, क्यों त्यागूँ? मैंने महान् त्याग रूपी महँगा मूल्य देकर ही इस प्रभुत्व शक्ति को प्राप्त किया है, जिसे पाने के लिए मुझे धन, नाम, कीर्ति अथवा यों कहिए कि अपने सभी भौतिक भोग-विलास और सुखों को त्यागना पड़ा है, मैं उसे दूसरों को क्यों दूँ?" फिर वह शक्ति तो केवल मानसिक है और उसे पूर्णरूपेण गुप्त रखने के लिए भी कितने ही अवसर हैं। परिस्थिति के चक्र में उलझे हुए मनुष्य का स्वभाव वैसा ही बन

जाता है, जैसा बनना कि उस परिस्थिति में उसके लिए अनिवार्य है। प्रत्येक बात को गुप्त रखने का निरन्तर अभ्यास करते रहने के कारण मनुष्य चरम स्वार्थ तथा ढोंग का शिकार बन जाता है. और अन्त में उन विषैले परिणामों के वशीभूत हो जाता है, जो उसी सिलसिले में प्रकट होते हैं। इस गुप्त रखने की इच्छा का अनिष्ट परिणाम कालान्तर में उसी पर होता है। समस्त ज्ञान तथा समस्त विद्या समुचित उपयोग एवं प्रचार के अभाव में नष्ट हो जाती है और जो कुछ थोड़ा-बहुत बच रहता है, उसे भी किसी अलौकिक उपाय द्वारा प्राप्त समझा जाता है। इसीलिए मौलिक तत्वों के अनुसन्धान का प्रयत्न करना एवं नए विज्ञान शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना तो दूर रहा, पुराने में से बचे-कुचे, उसके दोषों को दूर करके सुधारने का प्रयत्न करना भी व्यर्थ समझा जाता है। फिर, पहले के ज्ञान एवं दुर्दम्य आत्मविश्वास को गँवाकर, पुरोहित केवल अपने पूर्वजों के नाम से अपना गौरव प्रदर्शित करता हुआ, अपने लिए अपने पुरखों के उसी गौरव,उसी अधिकार, उसी सम्मान तथा उसी सत्ता को अकलंक रूप से बनाए रखनेका ही प्रयत्न करता रहता है। इसका परिणाम अन्य जातियों के साथ उसके घोर संघर्ष के रूप में प्रकट होता है।

लक्ष्य को भुलाकर, उद्देश्यहीन भटकी हुई पुरोहिती-शक्ति मकड़ी की भाँति अपने ही फैलाए हुए जाल में फँस गई है। पीढ़ियों से जो शृंखला अत्यन्त सावधानीपूर्वक दूसरों के पाँवों को बाँधने के लिए गढ़ी गई थी, अब वह उन्हीं के पाँवों को सहस्र गुना अधिक जकड़ रही है तथा सैकड़ों प्रकार से उनकी ही गति का अवरोध कर रही है। कर्मकांड की अनेक विधियों तथा रूढ़ियों के अनन्त जाल में पुरोहिती शक्ति स्वयं ही फंस गई है। उसने जिस जाल को सब ओर, शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि के बाह्य साधन के नाम से समाज को इन अगणित बन्धनों में लोहे जैसी दृढ़ता से जकड़ रखने के लिए फैलाया था, आज वह स्वयं सिर से पाँव तक उसी में आशातीत रूप

से उलझकर निराशा की निद्रा में पड़ी हुई है। अब उसमें से कोई बचाव नहीं है। उस जाल को तोड़ फेंका जाय तो पुरोहित की पुरोहिती जड़ तक हिल जाएगी। प्रत्येक मनुष्य में स्वभाव से ही अपनी उन्नति के लिए प्रबल इच्छा एकत्र होती है तथा जो इस पुरोहिती के बन्धन में फँसे रहने पर अपनी आकांक्षा का पूर्ण होना असम्भव समझते हैं, वे उस जाल को काटकर धन पैदा करने के लिए अन्य जातियों के व्यवसाय को करने लगते हैं। समाज उन लोगों को पुरोहिती के अधिकार से तुरन्त ही वंचित कर देता है। उन तथाकथित ब्राह्मणों के ब्राह्मणत्व पर समाज की कोई श्रद्धा नहीं है, जो चोटी रखने के बदले बालों को सँवारते हैं। जो अपने पुराने आचारों तथा पूर्वजों की रूढ़ियों को त्यागकर, अर्ध-यूरोपियन पोशाक को पहनते हैं तथा पश्चिम से आए हुए नए-नए रीति रिवाजों का दोगले ढंग से पालन करते हैं, उनके ऊपर समाज की कोई श्रद्धा नहीं है। फिर, भारतवर्ष के उन भागों में, जहाँ इस नवागत अंग्रेजी सरकार ने नवीन शिक्षा-प्रणाली तथा धन-प्राप्ति के नवीन साधन खोल रक्खे हैं, अनेकों ब्राह्मण-युवक अपने परम्परागत पुरोहिती व्यवसाय को त्याग कर, अन्य जातियों के व्यवसाय को अपनाकर, जीविकोपार्जन का प्रयत्न करते हुए धनी हो गए हैं। इसका फल यह हुआ है कि पुरोहित वर्ग के आचार तथा रूढ़ियाँ, जो उन्हें अपने पूर्वजों से क्रमागत प्राप्त होती चली आई थीं, सब लुप्त हो रही हैं और अधिक शीघ्रता से शेष बची हुई भी विलुप्त होती चली जा रही हैं। पुराने विचार वाले कट्टर पंडित भी, दरिद्रों की कठिनाइयाँ भुगत कर अपने बालकों को अंग्रेजी विश्वविद्यालयों में भेज रहे हैं अथवा उनसे वैश्य, कायस्थ आदि ब्राह्मणेतर जातियों का व्यवसाय करा रहे हैं। यदि इसी दिशा में कार्यधारा बहती रही, तो यह निःसंदेह एक विचारणीय बात हो जाएगी कि अब और कितने दिनों तक पुरोहितवर्ग भारत-भूमि में टिक सकेगा? जो लोग पुरोहितवर्ग के अधिकार को नष्ट करने के प्रयत्न का दोष अन्य किसी एक व्यक्ति

अथवा जन-समूह के मत्थे मढ़ना चाहते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि प्रकृति के अटल नियम के वशीभूत होकर ब्राह्मण जाति अपने हाथों स्वयं ही अपनी कब्र खोद रही है, और यह होना भी चाहिए। उच्च घराने में जन्म लेने वाले तथा विशेष अधिकार रखने वाले प्रत्येक जाति के लोग अपने ही हाथों अपनी चिता तैयार करना अपना मुख्य कर्तव्य बनालें, यही अच्छा तथा उपयुक्त होगा।

× × ×

भारतवर्ष के लिए पुरोहिती अभिशाप रूप है। क्या कोई मनुष्य अपने भाई को नीचे गिराकर स्वयं को नीचे गिरने से रोक सकता है? क्या कोई स्वयं को चोट पहुंचाए बिना दूसरे को चोट पहुंचा सकता है? ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के अत्याचार अब स्वयं उन्हीं के मस्तकों पर चक्रवृद्धि ब्याज सहित टूट पड़े हैं तथा कर्मफल के अटल नियमानुसार उन्हें एक सहस्र वर्ष तक का दासत्व तथा अधःपतन भोगना पड़ रहा है।

दक्षिण भारत में मुझे नीच जाति वालों के प्रति उच्च जाति वालों के अत्याचारों के कैसे-कैसे अनुभव प्राप्त हुए हैं। जो दरिद्रों के दुःख को दूर नहीं करता और जो मनुष्य को देवता नहीं बनाता, क्या वह धर्म है? क्या तुम यह समझते हो कि हमारा धर्म 'धर्म' कहने के योग्य है? हमारा धर्म तो केवल 'छुओ मत' में है—'मुझे मत छुओ', 'मुझे मत छूओ'। हे भगवन्! जिस देश के बड़े-बड़े नेता विगत दो सहस्र वर्षों से केवल यही विवाद करते आए हैं कि 'भोजन दाँऐ हाथ से किया जाय अथवा बाँऐ हाथ से' यदि ऐसे देश का भी विनाश नहीं होगा, तो फिर किस का होगा? जिस देश में लाखों मनुष्य महुए के फूल खाकर पेट भरते हों, जहाँ दस-बीस लाख साधु तथा दस करोड़ ब्राह्मण इन गरीबों का रक्त चूसते हों, परन्तु उनके सुधार का रत्ती भर भी प्रयास न करते हों, वह देश 'देश' है या 'नरक'? वह धर्म है अथवा शैतान का नंगा नाच? मैं सम्पूर्ण भारत

में घूम चुका हूँ तथा संयुक्तराज्य अमेरिका को भी मैंने देखा है। तुम अमेरिकावासियों के लिए यह एक अच्छी तरह से समझने की बात है कि क्या कारण के विना कोई कार्य हो सकता है, क्या विना पाप किए दंड मिल सकता है?

इतनी शताब्दियों तक दृढ़ कुसंस्कारों के नित्य बढ़ते हुए बोझ को अपने मस्तक पर लादे हुए, सैकड़ों वर्षों तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति को केवल भोजनादि की छुआछूत की बहस में ही व्यय करते हुए, युगों के निरन्तर सामाजिक अत्याचार के कारण जिसकी सम्पूर्ण मानवता को निचोड़ लिया गया है, ऐसे तुम क्या हो? आओ, मनुष्य बनो। उन्नति के चिर-विरोधी पुरोहितों को धक्का मार कर दूर हटा दो, क्योंकि वे कभी सुधर नहीं सकते। उनके हृदय कभी उदार नहीं होंगे। उनकी उत्पत्ति शताब्दियों के कुसंस्कार तथा अत्याचार से हुई है। सर्वप्रथम पुरोहिती के छल को जड़ से उखाड़ फेंको। आओ, मनुष्य बनो, अपने संकीर्ण बिलों में से बाहर निकलो तथा आँखें खोल कर देखो। यह देखो कि अन्य सभी देश किस प्रकार आगे बढ़ रहे हैं। हे मतिभ्रष्ट लोगो! बाहर निकलने से तो तुम्हारी जाति ही चली जाती है। हमें यात्रा करनी चाहिए, विदेशों को जाना चाहिए। यदि हमें वास्तव में फिर से एक देश अथवा राष्ट्र बनना है तो यह देखना चाहिए कि अन्य देशों में समाज—यंत्र किस तरह चल रहा है। हमें अन्य राष्ट्रों की विचारधारा के साथ मुक्तहृदय से सम्बन्ध रखना चाहिए और सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमें अत्याचार बन्द कर देना चाहिए।

हे अत्याचारियो! तुम नहीं जानते कि अत्याचार तथा गुलामी जैसे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गुलाम तथा अत्याचारी समानार्थक नाम हैं। अल्पसंख्यकों पर अत्याचार संसार में सबसे बुरा होता है।

नीचतम जाति का व्यक्ति उच्च जाति वालों के युगों के निरन्तर अत्याचार के कारण तथा पग-पग पर घूँसों एवं लातों के प्रहार से

अपनी मनुष्यता को पूर्ण रूप से खो बैठा है और भिखारी बन गया है। भंगी तथा परिया लोगों को उनकी इस दीन दशा में किसने पहुंचाया? इधर तो हमारे व्यवहार में हृदयहीनता है, और उधर साथ ही हम आश्चर्यमय अद्वैतवाद का उपदेश दे रहे हैं—क्या यह जले पर नमक छिड़कना नहीं है?

विचार करो, हम कैसी हास्यास्पद अवस्था में पहुंच गए हैं। यदि कोई भंगी--भंगी की भाँति किसी के समीप आए, तो वह उसे प्लेग समझ कर दूर भागता है, परन्तु जैसे ही वह पादरी द्वारा, प्रार्थना के साथ, अपने मस्तक पर एक प्याला पानी डलवा कर ईसाई बन जाता है तथा अपने शरीर पर एक कोट—चाहे उसके धागे ही क्यों न दिखाई पड़ रहे हों—डाल लेता है, और फिर जब वह कट्टर से कट्टर हिन्दू के कमरे में जाता है, तब मुझे ऐसा कोई दिखाई नहीं देता, जो उसे कुर्सी न दे और दिल खोलकर हाथ न मिलाए। इससे अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है? आओ, देखो, यहाँ दक्षिण भारत में वे पादरी लोग क्या कर रहे हैं? नीच जातियों के लाखों लोगों को वे ईसाई बना रहे हैं तथा त्रावणकोर, जहाँ भारतवर्ष में सबसे अधिक पुरोहितों की प्रबलता है, जहाँ भूमि का प्रत्येक टुकड़ा ब्राह्मणों के हाथ में है, लगभग एक चौथाई लोग ईसाई बन गए हैं। और मैं उन्हें दोष नहीं देता, वे कर ही क्या सकते हैं? हे प्रभो! मनुष्य कब मनुष्य को अपना भाई मानेगा?

× × ×

पुरोहिती स्वभावतः निर्दय तथा हृदयहीन वस्तु है। इसीलिए जैसे ही पुरोहिती का आरम्भ हुआ, वैसे ही धर्म की अवनति होने लगी। वेदान्त कहता है 'हमें अधिकार का विचार छोड़ देना चाहिए, तभी धर्म का उदय होगा। उसके बिना धर्म केवल नाममात्र को ही है।'

वेदान्त ही एक निर्भीक प्रणाली रहा है (अब भी है), वह

कहीं रुका नहीं तथा उसमें एक लाभ यह भी था कि उसमें कोई पुरोहित वर्ग नहीं था, जो सत्य का प्रचार करने वाले मनुष्य को दबाने का प्रयत्न करना, उसमें पूर्णरूपेण धार्मिक स्वतंत्रता थी। भारतवर्ष में कुसंस्कार का बन्धन केवल सामाजिक है।

मानव जीवन के लिए अधिकार की भावना हानिकारक है। दो शक्तियाँ जसे निरन्तर कार्य कर रही हैं—एक तो जाति वना रही है और दूसरी अधिकारों को नष्ट कर रही है। जब कभी अधिकार का नाश होता है, तो उस मनुष्यवंश की अधिकाधिक उन्नति होती है, उसमें अधिक से अधिक ज्ञान का प्रकाश आता है। वेदान्ती होना तथा साथ ही किसी के लिए किसी तरह का भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक अधिकार स्वीकार करना असम्भव है। वेदान्त में किसी के लिए किसी भी तरह के अधिकार का स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में एक ही शक्ति है। किसी में अधिक प्रकट हुई है और किसी में कम। वेदान्त के अनुसार जन्मगत ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है।

जाति स्वभाव पर आधारित एक संस्था है। मैं सामाजिक जीवन में एक काम कर सकता हूँ, और तुम कोई दूसरा—तुम एक देश पर शासन कर सकते हो, और मैं एक पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम मुझसे बड़े हो, क्योंकि क्या तुम मेरे जूते की मरम्मत कर सकते हो, और क्या मैं देश का शासन कर सकता हूँ? मैं जूते को ठीक करने में चतुर हूँ और तुम वेद पढ़ने में चतुर हो, परन्तु यह कोई कारण नहीं कि तुम मेरे मस्तक को अपने पाँवों से कुचलो। यदि कोई हत्या करे, तो उसकी प्रशंसा क्यों की जाय, और यदि कोई केवल एक सेव ही चुराए तो, उसे फाँसी क्यों दी जाय? इस सब का अन्त होना ही चाहिए। जाति अच्छी है। जीवन-क्रम को निभाने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। मनुष्य अपना-अपना समूह वनाता ही है, तुम इससे मुक्ति नहीं पा सकते। कहीं भी जाओ, तुम जाति को देखोगे ही; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि

उसके साथ ही अधिकार भी चिपके रहें। इन अधिकारों को नष्ट कर देना चाहिए। स्वयं को भिन्न-भिन्न समूहों में विभक्त करना तो समाज का स्वभाव ही है। परन्तु हम जिन्हें नष्ट करना चाहते हैं, वे ये अधिकार ही हैं। यदि तुम धींवर को वेदान्त पढ़ादो, तो वह यही कहेगा कि जिस तरह तुम एक मनुष्य हो, उसी तरह मैं भी हूँ। मैं धींवर हूँ, तो तुम तत्वज्ञानी हो, परन्तु मुझ में भी वही ईश्वर है, जो तुम में है। और यही तो हम चाहते हैं—किसी के लिए कोई अधिकार न रहे, सब को एक जैसा अवसर प्राप्त हो। प्रत्येक व्यक्ति को यही सिखाओ कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है और उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति का प्रयत्न स्वयं ही करेगा।

इस तरह प्रत्येक अधिकार को तथा हममें स्थित उस भावना को, जो हमें अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उकसाती है, कुचल कर हमें उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए, जिसके द्वारा हममें सम्पूर्ण मानवजाति के प्रति एकत्व की भावना उत्पन्न हो सके।

× × ×

सम्पूर्ण प्रकृति में दो शक्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई पड़ती हैं—इनमें से एक निरन्तर भेदभाव उत्पन्न करती रहती है और दूसरी निरन्तर एकता स्थापित करती रहती है। पहली, व्यक्तियों में अधिकाधिक भेद उत्पन्न करती है और दूसरी जैसे अलग-अलग व्यक्तियों को एक साधारण समूह में लाती है और इन सब भेदों के बीच से समानता को प्रकट करती है। ऐसा कहा जाता है कि भौतिक शरीरों तथा सामाजिक विभागों में यदि बिलकुल समानता आ जाय,तो उनकी मृत्यु निश्चित है। इसलिए हमें एकरूपता से बचना चाहिए। यह तो वास्तव में वही युक्ति है, जिसे भारतवर्ष के ब्राह्मण इस उद्देश्य से प्रयोग में लाया करते हैं, ताकि भिन्न-भिन्न भेदभाव एवं जातियाँ बनी रहें तथा समाज के कुछ भाग के विशेष अधिकार अन्य सब लोगों पर

चलाने के लिए स्थिर बने रहें। हाँ, उनका कहना है कि जातिभेद को नष्ट करने से समाज का नाश हो जाएगा तथा वे साहस पूर्वक इस तथ्य को सामने लाते हैं कि जातिभेद के कारण ही हमारा समाज सबसे अधिक समय तक जीवित रहा है।

इसके विपरीत, एकत्व की भावना के समर्थक प्रत्येक युग में हुए हैं। वेदान्ती की घोषणा है कि एकता ही अस्तित्व है, विभिन्नता तो केवल इन्द्रियग्राह्य, क्षणभंगुर एवं भासमान है। वेदान्ती कहता है—भिन्नता की ओर मत देखो, एकता की ओर लौट चलो। यह सत्य है कि विभिन्नता अथवा भेद विद्यमान है तथा यदि जीवन को रहना है, तो विभिन्नता रहनी ही चाहिए; परन्तु यह भी सत्य है कि इन भेदों में ही और उनके भीतर से ही एकता का अनुभव करना होगा।

सम्पूर्ण विश्व विभिन्नता में एकता का खेल है। इनमें से एक को ग्रहण करना, दूसरे को माने विना नहीं हो सकता। यही एक विशेष दावा है—यह बात नहीं है कि इस एकता का निर्माण करना है, अपितु यह एकता पहले से ही है और तुम उस एकता के विना विभिन्नता को बिलकुल ही नहीं देख सकते। यह नहीं है कि ईश्वर को उत्पन्न करना है, वह तो पहले से ही हैं। तुम इससे इन्कार नहीं कर सकते कि यही यथार्थ विचार है। परन्तु साथ ही यह भी कठिनाई है कि वाह्यरूप तथा अवस्था में कभी भी एकरूपता नहीं आ सकती है। इस दिशा में जो कार्य सम्भव है, वह केवल अधिकारों को दूर करना ही है। वास्तव में समस्त संसार के समक्ष यही कार्य है। सभी सामाजिक जीवनों में, प्रत्येक जाति, प्रत्येक देश में यही एक संघर्ष चल रहा है। यह कोई सोचने की बात नहीं है कि मनुष्य का एक दल स्वभावतः दूसरे से अधिक बुद्धिमान है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या मनुष्य का यह दल, अधिक बुद्धि प्राप्त होने के कारण, अन्यतम बुद्धि वालों से उनके भौतिक सुखोपभोग को भी छीन ले? संघर्ष उसी अधिकार को नष्ट करने के लिए है। यदि कुछ मनुष्य

अपनी विशेष योग्यता द्वारा दूसरों की अपेक्षा अधिक धन एकत्र करते हों, तो यह स्वाभाविक है, परन्तु धन कमाने की इस शक्ति के कारण वे अत्याचार करें तथा दूसरे जो इतना धन प्राप्त नहीं कर र कते, उन्हें वेतरह रौंदें, यह तो कभी भी उचित नहीं है। इसी के विरुद्ध सघंर्ष होता है। दूसरों को दवाकर लाभ उठाना ही अधिकार कहलाता है और इस अधिकार को नष्ट करना ही नैतिकता का सदैव से उद्देश्य रहा है। यही एक कार्य है, जो विभिन्नता का नाश किए विना भी हमें समानता तथा एकता की ओर ले जाएगा।

हममें से प्रत्येक के भीतर अव्यक्त रूप में सत्, चित तथा आनन्द का वही अनन्त सागर विद्यमान है, जो हमारा प्रकृत स्वरूप जन्मसिद्ध अधिकार है। अपने उस ईश्वरीय स्वरूप को प्रकट करने की कम अथवा अधिक शक्ति के कारण ही हम लोगों में विभिन्नता है। अत· वेदान्त का सिद्धांत है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ, जैसा कि वह दिखाई देता है, वैसा ही मानकर व्यवहार नहीं करना चाहिए, अपितु उसके वास्तविक स्वरूप को देखते हुए, जिसका कि वह प्रतीक है, उसके साथ व्यवहार करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का ही प्रतीक है और इसीलिए प्रत्येक उपदेशक को यह चाहिए कि वह किसी मनुष्य की निन्दा न करके उसे अपने अन्तःस्थित ईश्वरत्व को प्रकट करने में सहायता प्रदान करे!

मुझे इस वात का खेद है कि वर्त्तमान समय में जातियों के वीच इतना विवाद है। यह तो अवश्य वन्द होना चाहिए। यह दोनों ओर से निरर्थक है, विशेषकर उच्च जाति वालों की ओर से; क्योंकि अव इन अधिकारों तथा विशेष हकों के दिन वीत गए। समाज के प्रत्येक उच्च पदाधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकारों की कब्र स्वयं ही खोदें तथा यह जितना शीघ्र हो, सवके लिए उतना ही अच्छा होगा। जितनी देर होगी, वह उतना सड़ेगा तथा उतनी ही

बुरी मौत मरेगा। इसीलिए भारतवर्ष में ब्राह्मण का यह कर्त्तव्य है कि वह शेष मनुष्य जाति की मुक्ति के लिए कर्मशील बने। यदि वह ऐसा करता है और जब तक ऐसा करता है, तभी तक ब्राह्मण है, परन्तु जब वह केवल पैसा पैदा करने में ही लग जाता है, तब वह ब्राह्मण नहीं है।

मेरा समाजवाद

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चारों वर्ण क्रमश: एक के बाद दूसरे संसार का शासन करते हैं। इनमें से प्रत्येक ने अपनी पूर्ण प्रभुता की अवधि में कई कार्य ऐसे किए, जिनके द्वारा लोगों की भलाई हुई है तथा कुछ ऐसे भी किए हैं, जिनसे उन्हें हानि भी पहुंची है।

जिस प्रकार पुरोहित सम्पूर्ण ज्ञान तथा विद्याओं को एक साधारण केन्द्र अर्थात स्वयं में केन्द्रित करने में लगा रहता है, उसी प्रकार राजा स्वयं को केन्द्रविन्दु बनाकर सम्पूर्ण पार्थिव शक्तियों को एक जगह सन्नि-हित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह सत्य है कि दोनों ही समाज के लिए उपयोगी हैं। एक समय समाज की सार्वजनिक भलाई के लिए दोनों की आव-श्यकता होती है, परन्तु यह केवल आरम्भिक अवस्था में ही होता है।

राजा, जो कि अपनी प्रजा की एकत्र शक्तियों का केन्द्र है, शीघ्र ही भूल जाता है कि ये शक्तियां उसके पास इसीलिए संग्रहीत की गई हैं कि वह उन शक्तियों

को बढ़ाए तथा उन्हें सहस्र गुना अधिक बलशाली बनाकर फिर अपनी प्रजा को लौटा दे, जिसका परिणाम यह हो कि वे शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज की भलाई के हेतु सर्वत्र फैल जाँय, परन्तु होता यह है कि अपने 'अहंभाव' के कारण, राजा वेणु की भाँति सम्पूर्ण ईश्वरत्व का दावा करते हुए वह अन्य लोगों को अत्यन्त नीच समझता है और यह चाहता है कि वे उसके समक्ष दीनता का प्रदर्शन करते हुए पृथ्वी पर लोटें। उसकी इच्छा का—फिर चाहे वह भली हो अथवा बुरी—विरोध करना प्रजा के लिए महापाप है। अतः रक्षा के स्थान पर दमन—पालन के स्थान पर शोषण होने लगता है। जहाँ समाज सबल है, वहाँ राजा तथा प्रजा के बीच भयानक कलह शीघ्र ही उठ खड़ा होता है तथा उसके फलस्वरूप विद्रोह में राजदंड तथा राजमुकुट दूर फेंक दिए जाते हैं तथा राजसिंहासन, और राजसी-सामग्री आदि सब केवल अजायबघर की अलमारियों में सुरक्षित रक्खी हुई भूत-काल की आश्चर्यजनक वस्तुओं की भाँति बन जाते हैं।

इस कलह का परिणाम—इसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि वैश्य की प्रबल शक्ति प्रकट हो जाती है, जिसकी क्रुद्ध दृष्टि के समक्ष मुकुटधारी शूर-वीरों के अधिपति अपने राजसिंहासन पर पीपल के पत्ते की भाँति काँपने लगते हैं। दरिद्र तथा धनी उसके हाथों के स्वर्ण-कलश को प्राप्त करने की व्यर्थ आशा लगाए हुए, दीनभाव से उसका अनुसरण किया करते हैं, परन्तु वह स्वर्णकलश मृगजल की भाँति उनकी पहुंच से सदैव दूर ही दूर भागता चला जाता है। वैश्य की शक्ति उसके पास के रुपयों में है, जिनकी झंकार की ध्वनि चारों वर्ण के मन को अनिवार्य रूप से आकर्षित करती है। वैश्यों को यह भय निरंतर बना रहता है कि ब्राह्मण उनकी इस एकमात्र सम्पति को हड़प न लें और क्षत्रिय अपने शस्त्रों का शक्ति द्वारा उस पर अपना अधिकार न कर बैठें। अस्तु, आत्मरक्षा के लिए सभी वैश्य सामूहिक रूप से एक ही विचार के होते हैं। वैश्य सदैव इस बात की सावधानी रखता है कि राजसत्ता उसके धनागमन के मार्ग में किसी तरह बाधक

न बने, परन्तु इस सबके लिए वह ऐसा कभी नहीं चाहता कि राजसत्ता क्षत्रिय के पास से हटकर शूद्र के पास चली जाय। व्यापारी किस देश में नहीं जाता? स्वयं अज्ञ रहते हुए भी वह व्यापार के साथ-साथ एक देश की विद्या, बुद्धि, कला तथा विज्ञान को भी दूसरे देश में ले जाता है।

और वे लोग कहाँ हैं, जिनके शारीरिक श्रम के कारण ही ब्राह्मण को प्रभाव, क्षत्रिय को वीरता तथा वैश्य को धन प्राप्त होता है? उनका इतिहास क्या है, जो समाज का प्रधान अंग होते हुए भी सब समय, सभी देशों में 'नीच' कहलाए जाते हैं? भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों के शूद्र, सम्भवतः कुछ जाग्रत हो चुके हैं, परन्तु उनमें समुचित शिक्षा का अभाव एवं उनमें अपने ही वर्ग के मनुष्यों के प्रति पारस्परिक घृणा, जो शूद्रों का स्वभाव-सा है, पाई जाती है। यद्यपि उनकी संख्या अन्य वर्ग वालों से अधिक है, परन्तु उससे उन्हें क्या लाभ? वह एकता, जिससे दस व्यक्तियों में दस लाख की शक्ति एकत्र हो जाती है, शूद्रों से अभी बहुत दूर है। अस्तु, प्रकृति के नियमानुसार शूद्र लोग ही सदैव प्रजा वर्ग में रहा करते हैं।

फिर भी, एक समय ऐसा आएगा, जब शूद्र अपने शूद्रत्व के साथ ऊपर चढ़ेंगे। वह उत्थान आज की भाँति नहीं होगा, जबकि शूद्र वैश्यों अथवा क्षत्रियों के विशेष गुण प्राप्त करके ही बड़े होते हैं। अपितु एक समय ऐसा आएगा, जब प्रत्येक देश के शूद्र अपनी जन्म-जाति शूद्र प्रकृति तथा आचरण के साथ ही—वस्तुतः वैश्य अथवा क्षत्रिय बने बिना ही और शूद्र रहते हुए भी—प्रत्येक समाज में पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करेंगे। इस नई शक्ति की प्रभातकालीन किरणों का धीरे-धीरे फैलना पश्चिमी संसार में आरम्भ हो गया है तथा विचार-शील लोगों की बुद्धि इस नई घटना के अन्तिम परिणाम को सोच सकने में असमर्थ-सी हो गई है। समाजवाद, विप्लववाद, शून्यवाद तथा इसी प्रकार के अन्य वाद भविष्य में आने वाली सामाजिक क्रांति

के अग्रगामी सेनानी हैं। स्मृति के अतीत काल से शूद्र जिस दवाब तथा अत्याचार से पिसे जारहे हैं, उसका कारण यही हुआ है कि वे या तो कुत्ते की भाँति उच्च जाति के पाँवों को चाटने वाले अधम दासवृत्ति के हो गए हैं अथवा हिंसक पशुओं के समान निर्दय वन गए हैं।

पश्चिम में शिक्षा का प्रसार होने पर भी, शूद्रवर्ग की उन्नति के मार्ग में एक बड़ी भारी रुकावट है—और वह है, कम अथवा अधिक, अच्छे अथवा बुरे गुणों के आधार पर निश्चित हो जाने वाली जाति की स्वीकृति। पुरातनकाल में भारतवर्ष में इसी गुण द्वारा जाति-निर्णय प्रचलित था, जिससे शूद्रवर्ग को हाथ-पाँव बाँधकर नीचे दबाकर रक्खा गया है। पहले तो शूद्र को धन-संचय अथवा यथार्थ ज्ञान अथवा शिक्षा प्राप्त करने के हेतु कदाचित् ही कोई अवसर दिया जाता था। फिर, उसके भी ऊपर यह होता था कि यदि शूद्र जाति में कोई असाधारण बुद्धि तथा योग्यता वाला मनुष्य उत्पन्न हो जाता, तो समाज के प्रभावशाली उच्चवर्ग के व्यक्ति उस पर पदवियों द्वारा सम्मान की वर्षा करके, उसे स्वयं ही अपने वर्ग में तुरन्त उठा लेते थे। इस तरह उसकी सम्पत्ति तथा बुद्धि की शक्ति का उपयोग अन्य जाति के लाभ के लिए हो जाता था, जब कि उसकी अपनी जाति के लोग उसके गुणों द्वारा कोई भी लाभ न उठापाते थे। और केवल इतना नहीं, उच्च जातियों के निकम्मे लोग बाहर निकाल दिए जाते थे और शूद्रों के वर्ग में, उनकी संख्या को बढ़ाते हुए, उन्हें फेंक दिया जाता था।

वशिष्ठ, नारद, सत्यकाम, जावाल, व्यास, कृप, द्रोण, कर्ण और अन्य दूसरे व्यक्ति जिनके माता-पिता के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं है, विशेष विद्वान अथवा पराक्रमी होने के कारण ही ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय के पद पर आसीन कर दिए गए थे, परन्तु देखना यह है कि उनके इस तरह ऊपर चढ़ जाने से वैश्या, दासी, धीवर, अथवा सूत जाति का क्या लाभ हुआ? इसके विपरीत ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्गों के पतित मनुष्य सदैव ही शूद्रों के पद पर नीचे उतार दिए जाते थे।

आधुनिक भारत में शूद्र माता-पिता से उत्पन्न व्यक्ति को, चाहे वह करोड़ पति हो अथवा महान् पंडित, अपने समाज को छोड़ने का अधिकार कभी भी नहीं मिलता और उसका फल यह होता है कि उसकी सम्पत्ति, विद्या, अथवा बुद्धि की शक्ति उसी जाति की सीमा में आवद्ध रहने के कारण, उसके अपने ही समाज की भलाई के लिए उपयोग में आती है। इस तरह भारतवर्ष की यह परम्परागत जाति-प्रथा, अपनी सीमा के वाहर पाँव न रख सकने के कारण धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से, अपने ही समाज के भीतर रहने वाले लोगों को उन्नत बनाने में सहायक हो रही है। भारतवर्ष के निम्न वर्गों का यह सुधार उस समय तक चलता रहेगा, जब तक भारतवर्ष उस राज्यशासन के अधीन रहेगा, जो प्रजा से जाति तथा पद का भेद न रखते हुए समान व्यवहार करता है।

× × ×

मानव-समाज का शासन क्रमशः एक-दूसरे के पश्चात् चार जातियों द्वारा हुआ करता है, और ये जातियाँ हैं—पुरोहित, योद्धा, व्यापारी तथा श्रमिक। सबसे अन्त में श्रमिक अथवा शूद्र का राज्य आएगा। उससे यह लाभ होगा कि भौतिक सुख-साधनों का समान रूप से वितरण होगा तथा हानि यह होगी कि संस्कृति का अधःपतन हो जाएगा। साधारण संस्कृति का विस्तार तो वहुत वढ़ेगा, परन्तु असाधारण वुद्धिमान लोग अधिकाधिक कम होते चले जाएँगे।

इस तरह का यदि एक राष्ट्र वन सके, जहाँ पुरोहित का ज्ञान योद्धा की संस्कृति, व्यापारी की वितरणशीलता तथा अन्तिम वर्ग की समता के आदर्श ज्यों-के-त्यों वने रहें, परन्तु उनके दोषों को दूर कर दिया जाय, तो वह आदर्श राष्ट्र होगा। परन्तु क्या ऐसा हो सकना कभी सम्भव है ?

पहले तीन तो अपने दिन भोग चुके हैं। अव चौथी, शूद्र जाति का समय आया है। उनको वह मिलना ही चाहिए—उसे कोई रोक

नहीं सकता। स्वर्णमान अथवा रजतमान सम्बन्धी समस्याओं को मैं नहीं जानता (सम्भवत: उसके सम्बन्ध में कोई भी अधिक नहीं जानता), परन्तु मैं यह अनुभव करता हूँ कि स्वर्णमान दरिद्रों को अधिक दरिद्र तथा धनिक को अधिक धनी बनाए दे रहा है। ब्रायन का यह कहना ठीक था "हम सोने की शूली पर प्राण देने से इन्कार करते हैं।" रजतमान दरिद्र को एक ओर भारी पल्ले वाले युद्ध में अधिक अच्छा अवसर देगा। मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं उसे सभी बातों में पूर्ण मानता हूँ, अपितु इसलिए कि अन्धे मामा से काना मामा अच्छा होता है।

अन्य मत-प्रणालियों के प्रयोग किए जा चुके और वे अपूर्ण पाई गईं। अब इसकी परीक्षा की जाय—और नहीं, तो कम-से-कम इसकी नवीनता के कारण से ही सही। इसकी अपेक्षा कि वे ही मनुष्य सदैव सुख-दुख भोगें, यह अच्छा है कि सुख-दु:ख का नया बँटवारा किया जाय। इस दुखमयी दुनियाँ में प्रत्येक को अवसर दिया जाना चाहिए।

समाज के सभी व्यक्ति को धन, विद्या तथा ज्ञान का उपार्जन करने के लिए एक जैसा अवसर मिलना चाहिए। प्रत्येक विषय में स्वतंत्रता अर्थात् मुक्ति की ओर प्रगति ही मनुष्य के लिए उच्चतम लाभ है। जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं, वे हानिकारक हैं और उन्हें नष्ट करने का उपाय शीघ्र ही करना चाहिए। जिन संस्थाओं द्वारा मनुष्य स्वतंत्रता के पथ पर आगे बढ़ता है, उन्हें प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। याद रहे कि राष्ट्र झोपड़ियों में बसता है।

भारतवर्ष के किसान, चमार, मेहतर, और ऐसी ही अन्य नीच जाति वालों में कार्य करने की शक्ति तथा आत्मविश्वास तुम्हारी अपेक्षा अधिक हैं। वे अनेक युगों से चुपचाप कार्य करते आए हैं और वे ही देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति को बिना 'चूँ' तक किए हुए कमाते

आए है। वे वहुत शीघ्र ही तुमसे ऊँचे पद पर जा पहुंचेगे। क्रमशः पूँजी उन्हीं के हाथों में जा रही है। अन्य आवश्यकताओं की अधिकता के कारण जितना कष्ट तुम्हें है, उतना उन्हें नहीं है। वर्तमान शिक्षा ने तुम्हारे रहन-सहन को तो वदल दिया, परन्तु धन-प्राप्ति के नए मार्ग आविष्कारिणी वुद्धि के अभाव, अभी तक नहीं ढूँढ़े गए हैं। इस सहनशील जनता का तुमने इतने दिनों तक दमन किया है, अव उसके प्रतिकार का समय आ गया है। और अव, तुम नौकरी को ही अपने जीवन का सर्वस्व वनाकर, उसकी व्यर्थ खोज में ही मर मिटोगे।

यदि मजदूर लोग काम करना वन्द करदें, तो तुम्हें अन्न और वस्त्र मिलना भी वन्द हो जाय। फिर भी तुम उन्हें नीचजाति के लोग मानते हो और अपनी संस्कृति की शेखी वघारते हो। आजीविका के संग्राम में व्यस्त रहने के कारण उन्हें स्वयं में ज्ञान को जागृत् करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इतने दिनों तक वे मानव-वुद्धि द्वारा चलने वाले यंत्र की भाँति निरन्तर काम करते रहे हैं तथा चतुर शिक्षित समुदाय ने उनके परिश्रम के फल का सार अंश ले लिया है। प्रत्येक देश में ऐसा ही हुआ है, परन्तु अव समय वदल गया है। नीची जातियाँ साधारणतः इस विषय की ओर जागृत् हो रही हैं तथा अपना यथोचित स्वत्व वलपूर्वक ग्रहण करने के लिए, इसका सामूहिक विरोध कर रही हैं। अव उच्च जाति वाले नीच जाति वालों को और अधिक समय तक दवाकर नहीं रख सकते, चाहे वे इसके लिए कितना भी प्रयत्न क्यों न करें। उच्च जातियों का कल्याण अव इसी में है कि वे नीच जातियों को उनके यथोचित अधिकार दिलवाने में सहायता करें।

जव जनसाधारण जग उठेंगे, तव वे अपने ऊपर किए जाने वाले अत्याचारों को जान लेंगे और उस समय उनके मुँह की एक फूँक से ही तुम पूरे-के-पूरे उड़ जाओगे। उन्होंने ही तुम्हारे वीच सभ्यता का प्रवेश कराया है और वे ही उसके ढहाने वाले भी होंगे। इस वात को स्मरण रक्खो कि 'गॉल' (Gauls) लोगों के हाथों से शक्तिशाली रोम की प्राचीन सभ्यता धूलि में मिला दी गई थी। इसीलिए मैं

कहता हूँ कि इन नीची जातियों को विद्या तथा संस्कृति प्रदान करके निद्रा से जगाओ। जब वे जग जाएँगे, और एक दिन वे जगेंगे अवश्य, तब वे अपने प्रति की हुई तुम्हारी हितकारी सेवा को भूलेंगे नहीं और तुम्हारे प्रति कृतज्ञ भी बने रहेंगे।

भारतवर्ष के इन दरिद्र, नीची जाति वालों के प्रति हमारे जो भाव हैं, उनका विचार करने पर मेरे अन्तःकरण में कितनी वेदना होती है। उन्हें कोई अवसर नहीं मिलता, न तो उनके लिए बचने का ही कोई मार्ग है और न ऊपर चढ़ने का ही। वे प्रतिदिन अधिकाधिक नीचे गिरते चले जा रहे हैं, वे निर्दय समाज द्वारा अपने ऊपर होने वाले आघातों का अनुभव करते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि ये आघात कहाँ से आरहे हैं। वे भी दूसरों के समान मनुष्य हैं, इस बात को वे भूल गए हैं। और इसका परिणाम हुआ है—गुलामी अथवा दासत्व। गत कुछ वर्षों के भीतर विचारशील पुरुषों ने इस बात को देख लिया है, परन्तु दुर्भाग्य से वे इसका दोष हिन्दूधर्म के सिर पर मढ़ते हैं और उन्हें सुधार का एक यही उपाय दिखाई पड़ता है कि संसार के इस महान् धर्म को कुचल दिया जाय।

मेरे मित्रो! मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो, ईश्वर की कृपा से मैंने रहस्य का पता लगा लिया है। दोष धर्म का नहीं है। इसके विपरीत, तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि प्रत्येक प्राणी अनेक रूपों में स्वयं तुम्हारी आत्मा का ही विकास है। परन्तु वास्तविक दोष है—व्यावहारिक आचरण का अभाव, सहानुभूति का अभाव, और हृदय का अभाव। इस स्थिति को दूर करना है, परन्तु धर्म का नाश करके नहीं, अपितु, हिन्दूधर्म के महान् उपदेशों के अनुसार आचरण करके तथा बौद्ध मत, जो हिन्दूधर्म का तर्क संगत विकसित रूप है, उसकी चमत्कारपूर्ण सहानुभूति को, उस आचरण के साथ युक्त करके। लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के जोश से उद्दीप्त होकर, ईश्वर के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर तथा दरिद्रों,

पतितों और पद-दलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह की भाँति साहसी वनकर इस सम्पूर्ण भारतवर्ष में सब जगह उद्धार के संदेश का, सहायता के संदेश का, सामाजिक उत्थान के संदेश का तथा समानता के संदेश का प्रचार करते हुए भ्रमण करेंगे।

वर्तमानकाल में तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम एक गाँव से दूसरे गाँव को जाओ तथा लोगों को यह समझाओ कि अब और अधिक समय तक केवल आलस्य पूर्वक बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। उन्हें उनकी वास्तविक स्थिति का परिचय कराओ और यह कहो—"हे भाइयो ! सब लोग उठो, जागो, अब और कितनी देर तक सोते रहोगे।" अब तक ब्राह्मणों ने धर्म पर एकाधिकार कर रक्खा है, परन्तु जब वे काल की प्रबल तरंग के विरुद्ध अपना एकाधिकार नहीं रख सकते, तब चलो, और ऐसा प्रयत्न करो कि वह धर्म देश भर में प्रत्येक को प्राप्त हो जाय। उनके मन में यह धारणा बैठादो कि ब्राह्मणों की भाँति ही धर्म पर उनका भी अधिकार है। सभी को, चंडाल तक को भी, इन्हीं प्रकाशमान मंत्रों का उपदेश करो। उन्हें सरल शब्दों में जीवन के प्रति आवश्यक विषयों एवं वाणिज्य-व्यापार तथा कृषि आदि की शिक्षा भी दो। यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते, तो तुम्हारी शिक्षा तथा संस्कृति को धिक्कार है, और तुम्हारे वेद-वेदान्त के अध्ययन को भी धिक्कार है। भारत की उच्च जाति वालो ! तुम स्वयं को आर्य पूर्वजों की संतान कहने का चाहे जितना प्रदर्शन करो, चाहे जितना प्राचीन भारत के वैभव का दिन-रात गुणगान करो तथा अपने जन्म के अभिमान में अकड़े रहो—परन्तु क्या तुम यह समझते हो कि तुम सजीव हो ? तुम तो दस हजार वर्ष से सुरक्षित रक्खी हुई मृतदेह (mummies) की भाँति ही हो। भारतवर्ष में जो थोड़ी-बहुत जीवनीशक्ति अभी तक है, वह उन्हीं में मिलेगी, जिन्हें तुम्हारे पूर्वज चलते-फिरते, सड़े, गन्दे मांसपिंड मानकर घृणा करते थे। वास्तव में 'चलते हुए मुर्दे' तो तुम लोग हो। तुम्हारे घर

द्वार, तुम्हारे साज-सामान ऐसे निर्जीव तथा पुराने हैं कि वे अजायबघर के नमूनों की भाँति दिखाई पड़ते हैं तथा तुम्हारे रीति-रिवाज, चाल-ढाल तथा रहन-सहन को देखकर कोई भी यही सोचेगा कि वह 'नानी की कहानी' सुन रहा है। तुमसे व्यक्तिगत परिचय पाने के बाद जब वह घर लौटता है तो जैसे यह सोचता है कि वह कलाभवन के रंगीन चित्र देखने गया है। हे भारत के उच्चवर्ग वालो! तुम तो माया के इस संसार में इन्द्रजाल की भाँति हो, रहस्य जैसे हो, मरुमरीचिका के समान हो, एकत्र मिश्रित भिन्न-भिन्न भूतकालिक, क्रियाओं के तुम केवल द्योतक मात्र हो। तुम्हें अभी भी वर्तमान समय में कोई देख रहा है–यह तो जैसे अजीर्ण के कारण होने वाला भयानक दुःस्वप्न है। तुम तो भविष्य के शून्याकार, सारहीन, अस्तित्वहीन पदार्थ हो। हे स्वप्नराज्य के नागरिक! तुम लोग और अधिक समय तक क्यों भटक रहे हो? तुम भूतकालीन भारत की मृतदेह के मांसहीन, रक्तहीन, अस्थि-कंकाल की भाँति हो—तुम शीघ्र ही स्वयं को मिट्टी में मिलाकर वायु में अदृश्य क्यों नहीं हो जाते? तुम्हारी अस्थिमयी उँगलियों में तुम्हारे पूर्वजों के संग्रह किए रत्न की कुछ अमूल्य अँगूठियाँ हैं तथा अत्यन्त प्राचीन सम्पत्ति की पिटारियाँ तुम्हारे दुर्गन्धियुक्त मृतशरीर की छाती से चिपकी हुई सुरक्षित रक्खी हैं। अब तक तुम्हें उन्हें दूसरों को सौंप देने का अवसर नहीं मिला था। अब ब्रिटिश शासन में, प्रतिबन्ध रहित शिक्षा तथा ज्ञान-प्रसार के दिनों में, उन सब वस्तुओं को अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दो। यथासम्भव इस कार्य को शीघ्र कर डालो। तुम स्वयं को शून्य में विलीन करके अदृश्य हो जाओ तथा उसके स्थान पर नवभारत का उदय होने दो। उसका उदय हल चलाने वाले किसानों की कुटियों, मछुएँ, मोचियों तथा महतरों की झोंपड़ियों से हो। वह बनिए की दूकान और रोटी बेचने वाले की भट्टी के समीप से प्रकट हो। वह कारखानों, हाटों तथा बाजारों से निकले। उस नवभारत का उदय अमराइयों, जंगलों तथा पर्वतों से हो। ये साधारण लोग सहस्रों वर्षों से अत्याचार सहन

करते आए हैं—इन्होंने बिना 'चू' तक किए हुए सब कुछ सहा है। और उसके फलस्वरूप उन्होंने आश्चर्यजनक धैर्य्यशक्ति को प्राप्त कर लिया है। वे निरन्तर विपत्ति सहते रहे हैं, जिससे उन्हें अविचल जीवनीशक्ति प्राप्त हो गई है। वे मुट्ठी भर अन्न से ही अपना पेट भर कर संसार को कँपा सकते हैं। उन्हें तुम केवल आधी रोटी देदो और यह देखो कि सम्पूर्ण संसार का विस्तार भी उनकी शक्ति के समावेश के हेतु पर्याप्त न होगा। उनमें 'रक्तबीज' की अक्षय जीवनी शक्ति भरी हुई है। इसके अतिरिक्त उनमें पवित्र तथा नीति युक्त जीवन से आने वाला वह आश्चर्यजनक बल विद्यमान है, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलता। ऐसी शान्ति, ऐसा संतोष, ऐसा प्रेम तथा चुपचाप निरन्तर कार्य करते रहने की ऐसी शक्ति एवं कार्य के समय इस तरह का सिंह जैसा शक्ति-प्राकट्य—यह सब तुम्हें और कहाँ मिलेगा?

हे भूतकाल के कंकाल! देखो, तुम्हारे समक्ष तुम्हारे उत्तराधिकारी खड़े हुए हैं—भावी भारतवर्ष खड़ा हुआ है। अपने खजाने की उन पिटारियों तथा उन रत्नजटित मुद्रिकाओं को जितना शीघ्र हो सके, उनके बीच फेंकदो और तुम स्वयं वायु में विलीन हो जाओ, फिर कभी दिखाई मत दो—केवल अपने कानों को खोले रहो। अपने अदृश्य होते ही तुम पुनर्जात भारतवर्ष का वह प्रथम उद्घोष तुरन्त ही सुन पाओगे, जिसकी करोड़ों गर्जनाओं द्वारा सम्पूर्ण विश्व में यही पुकार गूंजती रहेगी—'वाह गुरु की फतह!'

विवेकानन्द-वचनामृत

तुम्हारे देश को वीरों की आवश्यकता है, अतः सदव वीर बनो। पर्वत की भाँति निश्चल बने रहो। 'सत्यमेव जयते'—सत्य की सदैव विजय होती है। भारतवर्ष ऐसी एक नई विद्युत्-शक्ति को चाहता है, जो राष्ट्र की नस-नस में नवजीवन का संचार करदे।

साहसी बनो, साहसी बनो; मनुष्य की मृत्यु एक बार ही होती है। मेरे शिष्य कायर नहीं होने चाहिए। मुझे कायरता से घृणा है। गम्भीर से गम्भीर कठिनाइयों में भी अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रहो। क्षुद्र, अबोध जीव तुम्हारे विरुद्ध क्या कहते हैं, इसकी तनिक भी चिन्ता मत करो।

उपेक्षा! उपेक्षा! ध्यान रक्खो। आँखें दो हैं, कान भी दो हैं, परन्तु मुँह केवल एक है। पर्वतकाय विघ्न-बाधाओं में से होते हुए ही समस्त महान् कार्य सम्पन्न होते हैं। अपने पुरुषार्थ को प्रकट करो। काया तथा कंचन में जकड़े हुए मोहान्ध व्यक्ति उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाने के ही योग्य हैं।

× × ×

प्राचीन धर्मों का कथन है—"नास्तिक वह है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता।" नया धर्म कहता है—"नास्तिक वह है, जो स्वयं में विश्वास नहीं करता।"

× × ×

इस संसार में हों या धर्म के संसार में,—यह सत्य है कि पतन तथा पाप का निश्चित कारण भय ही है। भय से ही दुःख-कष्ट होता है, भय से ही मृत्यु आती है तथा भय से ही समस्त बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं । इस भय का क्या कारण है ?—अपने स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान। हममें से प्रत्येक उस 'राजाधिराज' का—उस 'सम्राटों के सम्राट्' का निश्चित् उत्तराधिकारी है।

× × ×

हमारे राष्ट्र के रक्त में एक भयंकर रोग संक्रामित होता जा रहा है, और वह है—प्रत्येक बात की खिल्ली उड़ाना, गम्भीरता का अभाव। उसे दूर कर दो। बलवान बनो तथा इस श्रद्धा को अपनाओ, तुम देखोगे कि शेष सभी वस्तुएँ अपने आप ही आने लगेंगी।

× × ×

पवित्र बनने के प्रयत्न में यदि मर भी जाओ, तो क्या; सहस्रवार मृत्यु का स्वागत करो । हृदय न खोना । यदि अमृत न मिले तो यह कोई आवश्यक नहीं कि हम विष खालें ।